
संत
साहित्य

संत-साहित्य

(भाषापरक अध्ययन)

[आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट० की उपाधि के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल
एम० ए०, पी० एच डी०, डी० लिट०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर



ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर

ग्रन्थम

● मूल्य—अठारह रुपए

● प्रकाशक
ग्रन्थम रामबाग कानपुर

● प्रकाशन तिथि
जुलाई १९६५

● मुद्रक
मानक प्रिण्टर्स आनन्दबाग कानपुर—१



डा० मनोराम शर्मा सोम एम ए पी एच डी डी लिट

सतगुरु की महिमा अनत अनत किया उपकार ।

\+ + + +

क्या ले गुरु सतोषिए हौंस रही मनमाहिं ।

मेरे जीवन निमाता

गुरुदेव डॉ० मुशीराम शमा 'सोम'

के

कर कमलों मे

सादर समर्पित

一

प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य की भक्तिकालीन धारा मे सत साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है। सतो ने अपनी साधना द्वारा जहाँ एक ओर वयक्तिक जीवन को समुन्नत किया, वहीं दूसरी ओर लोक-जीवन को भी उदात्तता की ओर अग्रसर करने का पुण्य प्रयास किया। अन्त एव बाह्य दोनो ही रूपो की पवित्रता तथा कथनी एव करनी की एकरूपता सतो की जीवन-यात्रा का प्रधान सबल थी। उन्होंने साधना की जिस उच्च मनोभूमि पर प्रतिष्ठित होकर तत्व का दशन किया वह आध्यात्मिक चितन की एक बडी ही महत्वपूण घटना सिद्ध हुई।

राजनीति तथा शासन-व्यवस्था जीवन दिशा म परिवतन की सष्टि करती है। फलत समाज अपनी युगीन प्रवत्तियो के आकलित स्वरूप को लेकर चलता है। जब किसी देश मे दो या दो से अधिक सम्यताओ का सम्मिलन होता है, अथवा राजकीय परिवतन होते हैं तब सामान्य जीवन का क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक है। इसी परिस्थिति मे मानव के धय का उसके विवेक का परिचय मिलता है। यह निर्विवाद है कि सतो ने अपने युग की आवश्यकताओ को समझा था और बडी ही निष्ठा के साथ अपनी विमल वाणी के उदघोष द्वारा जन-जीवन म एक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। धर्मान्धता, रूढ़ियो का अन्धानुसरण जातिगत भेदभाव सम्प्रदायगत कट्टरता आदि उन समस्त विघटनकारी प्रभावो के प्रति उन्होने विद्रोह किया और उस व्यापक सत्य को परमतत्व को प्राप्त करने का आग्रह किया जो हमारे प्राणो का प्राण है जो विश्वात्मा म अगोचर होकर रमण कर रहा है और जिसे हमारे वदिक ऋषियो ने सवद्रष्टा एव सवशक्ति सम्पन्न जानकर अपना उपास्य माना था।

तमध्वरेषु ईडते देव मर्त्ता अमत्यम। यजिष्ठ मानुष जने।

—ऋ० ५—१४—२

इन सतो ने अपनी ज्ञान-साधना एव उपदेश प्रक्रिया म विभिन्न धार्मिक धाराओं का प्रभाव ग्रहण करते हुए एक समन्वयात्मक दष्टिकोण रखा है। विरोध केवल वहीं पाया जाता है जहाँ शास्त्रो के तत्व को ग्रहण न करके उनका विवेकहीन अनुकरण किया गया है। विगत वर्षों म सत-साहित्य की इन विशेषताओं पर मान्य विद्वानो द्वारा गभीरतापूवक मनन हुआ है, और चितन सम्बन्धी अनेक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किए गए हैं जिससे सतो की लोकपरक दृष्टि तथा

उनके आध्यात्मिक विचारों का स्वरूप स्पष्ट होता है। विवेचना के विविध रूपों के साथ ही साथ संतों की भाषा विशेष रूप से कबीर की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार किया गया है।

कबीर-साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि संत-साहित्य का भाषा परक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय तो कदाचित संत-साहित्य की विवेचना में एक विशिष्ट अंग की पूर्ति हो सकेगी।

विश्व में कोई भाव या विचार जितना अधिक प्राचीन है भाषा भी उतनी ही अधिक प्राचीन है। विभिन्न भौगोलिक सीमाओं, राजनीतिक एवं धार्मिक क्रान्तियों तथा नाना घटनाचक्रों के प्रभाव स्वरूप भाषा भी अपना रूप बदलती रही है तथा क्षेत्रगत विशेषताओं के कारण भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित होती है। भाषा की इस विविधरूपा प्रकृति के दर्शन हम संतों की रचनाओं में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। संतों की उदारचेता प्रवृत्ति जिस प्रकार विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के द्वारा परम सत्य का दर्शन करना चाहती थी उसी प्रकार विभिन्न भाषागत स्वरूपों के माध्यम से उसी दर्शन को—जीवन के सत्य को व्यक्त करना भी उसका अभीष्ट था। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि हमारे समस्त धार्मिक ग्रंथ शास्त्रादि संस्कृत भाषा में ही लिखे गए। व्याकरणिक नियमों से जटिल होती हुई यह भाषा जन सामान्य के क्षेत्र से हटकर एक विशिष्ट वर्ग (पंडित समाज) तक ही सीमित रह गई। इसीलिए संस्कृत भाषा को उस कूप जलवत माना गया है जिसकी संप्राप्ति कष्टसाध्य है। वस्तुतः लोक-मानस लोक भाषा में ही विकसित होता है। धर्म की जो ज्योति लोक के अन्तस से प्रस्फुटित होती है वही लोक कल्याण करने में सक्षम होती है। इस ज्योति की संवाहिका लोक भाषा ही बन सकती है जो घर घर में उसके प्रकाश को फैला सके। लोक भाषा का स्वरूप उस पयस्विनी के समान है जो अपने दोनों कूलों से बंधी रहकर भी अपनी स्वतंत्र प्रकृति का परिचय देती है। वह अपने उद्गम स्थान पर भले ही अत्यन्त संकुचित एवं सीमित हो पर उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी होती हुई वह विभिन्न भूमिखण्डों का संस्पर्श प्राप्त करती है तथा अपने जल-सीकरों द्वारा समीपस्थ प्रदेश को उर्वर बनाती है। संतों ने लोकवाणी की इसी उर्वराशक्ति द्वारा अपने अन्तस के निगूढ़ रहस्यों, अनुभूतियों उपदेशों आदि को व्यक्त किया। संतजन प्रायः परिव्राजक होते थे जो इतस्ततः भ्रमण करते हुए साधनापरक मार्गों एवं लोकोन्नयन के सम्बन्ध में उपदेश दिया करते थे। अपने भ्रमण काल में ये संत विभिन्न प्रान्तीय बोलियों से प्रभावित न हुए हों, यह सम्भव नहीं है। उपदेश देते समय क्षेत्र विशेष की भाषा के प्रभाव को किसी न किसी रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। इसीलिए इनकी भाषा में वैविध्य पाया जाता है। एक बात और जहाँ-जहाँ ये संत भ्रमण करते थे वहाँ-वहाँ वे अपना प्रभाव भी छोड़ते चलते

थे। इस प्रकार उनकी शिष्य मंडली में प्राय अनेक क्षेत्रों के व्यक्ति रहे होंगे। अस्तु उस समय मुद्रण-कला के अभाव में उनके उपदेश गुरु-परम्परा के माध्यम से मौखिक रूप से ही प्रचलित हुए जिन्हें विभिन्न क्षेत्रीय व्यक्तियों ने अपने-अपने ढंग से उपस्थित किया। बाद में जब उनका संग्रह हुआ तो उनकी भाषा में विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा, इसीलिए आलोचकों ने उनकी भाषा को परिमार्जन एवं परिष्कार के अभाव में 'पंचमेल खिचड़ी' की संज्ञा प्रदान की है। यह ठीक है कि संतों की भाषा में एकरूपता का अभाव है पर इस अभाव को हमें हेय दृष्टि से नहीं देखना है। हमें उस युग के स्वरूप और लोक-संस्कार के आधार पर ही उनकी भाषा पर विवेचन करना चाहिए। संस्कृत के पश्चात् प्राकृत पाली एवं अपभ्रंश के अंचल से लोक भाषाओं का निर्माण हुआ। हिन्दी भाषा का परिनिष्ठित रूप उस समय लोक जीवन के समक्ष न आ सका था अत लोक-कल्याण की दृष्टि से संतजन जिस भाषारूप को अपना सके वही रूप उनकी बानियों, शब्दों साखियों आदि में उपलब्ध होता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भाषा अपनी अनेक रूपता में भी एक रूपता रखती है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि राष्ट्रभाषा (राज भाषा) को लेकर इस समय भारतवर्ष में जो समस्या उपस्थित है उसका समाधान संतों की भाषा ने बहुत पहले ही उपस्थित कर दिया है। उत्तर से लेकर दक्षिण तक संतों की भाषा जिसमें संस्कृत, गुजराती मराठी पंजाबी राजस्थानी ब्रज, अवधी, अरबी फारसी आदि भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं अन्त प्रांतीय भाषा के रूप में प्रचलित थी। उस समय इस प्रकार का भाषा विवाद न था।

संतों ने भाषा-शास्त्र के नियमों का सम्यक अध्ययन किए बिना ही किस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाया और उस कौन-कौन से शब्द परिधान प्रदान किए आदि कितने ही प्रश्न आज हमारी जिज्ञासा का विषय बने हुए हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध उसी जिज्ञासा के शमन का एक सामान्य प्रयास मात्र है।

इस प्रबन्ध में भाषा से सीधा सम्बन्ध रखने वाले विषय ही विवेचना का अंग बन सके हैं। भाषा जीवन सभ्यता, प्रकृति धर्म आदि के प्रभाव को लेकर चलती है। अत संत-साहित्य की भाषागत प्रवृत्ति पर विचार करते समय इन विषयों को ध्यान में रखा गया है। संत कवियों की रचनाओं में अनेक पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं जो कहीं-कहीं प्रतीक रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं। इनका अध्ययन इतना जटिल एवं दुरूह है कि वह सम्प्रदायगत गुरु-शिष्य परम्परा से ही सम्भव हो सकता है। प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने अतिप्रचलित पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्द-रूपों को लेकर विचार किया है। मैं यह अनुभव करता हूँ कि यह अध्ययन एक स्वतंत्र ग्रंथ का विषय बन सकता है। अस्तु यह विवेचन एक अंग की पूर्तिमात्र है, पूर्ण विवेचन नहीं।

किसी भी साहित्य की भाषा का अध्ययन उसके व्याकरणिक स्वरूप तथा शब्द की ध्वन्यात्मक प्रक्रिया के परिचय की अपेक्षा रखता है। अत संत साहित्य की भाषा का अध्ययन करते समय इस दृष्टि से भी विचार किया गया है।

कबीर तथा अन्य संत कवियो का साहित्य विद्वज्जनों के समक्ष काव्यात्मक दृष्टि से विवेचना का महत्वपूर्ण अंग नही रहा है। वस्तुत काव्यात्मक सृष्टि न तो संतो का उद्देश्य था और न उसके लिए उनके पास अवकाश ही था। भाव की भूमिका में प्रतिष्ठित होते ही वाणी स्वत काव्यमय हो जाती है। इसीलिए संतो की अभिव्यक्तियो में भी काव्यात्मक गुणो की सम्प्राप्ति स्वाभाविक है। प्रश्न केवल मात्रा का रह जाता है। इसी दृष्टि से संत-साहित्य में पाए जाने वाले काव्य-तत्त्वो को देखा गया है।

शब्द और उनके प्रयोग मानव-मस्तिष्क की चिंतनधारा का परिचय प्रदान करते हैं। इसी माध्यम से किसी जाति की सामाजिक चेतना के इतिहास का भी हमें ज्ञान प्राप्त होता है। विवेच्य सामग्री के अन्तर्गत इस तथ्य को ओझल नही होने दिया गया है।

संक्षेप में प्रबंध की यह रूपरेखा है। इसके लिए सामग्री चयन के अभिप्राय से मैंने विशेष रूप से भक्तिकाल के प्रमुख निर्गुण संत कवियो को ही लिया है। समस्त संत-कवियो को लिया जाना संभव भी न था। प्रबंध के कलेवर को अत्यधिक विस्तार से बचाने के विचार से हमने उद्धरण देते समय यह आवश्यक नही समझा कि प्रत्येक उदाहरण के लिए प्रत्येक संत कवि की पंक्तियाँ उद्धत की ही जावें अत कहीं पर किसी एक कवि की पंक्ति है तो कहीं पर किसी दूसरे कवि की पंक्ति। पर इतना ध्यान अवश्य रखा गया है कि यथासाध्य विवेच्य विषय का प्रतिपादन किसी न किसी उद्धरण द्वारा अवश्य हो जाय।

संत-कवियों के उपलब्ध साहित्य की प्रामाणिकता का भी प्रश्न मेरे सामने रहा है। इस सम्बन्ध में अपने सीमित साधनों के कारण मैंने उन्हीं ग्रंथो के आधार पर विवेचना करनी उचित समझी है जिनको अन्य विद्वज्जन आधार बनाते आये हैं।

इस प्रबंध के लिखने में मैंने जिन ग्रंथो का उपयोग किया है उनकी प्राय समस्त सूची प्रबंध के अन्त में दे दी गई है। वस्तुत पूर्व लिखे गए ग्रंथ प्रत्येक भावी लेखक के लिए पथ प्रदान का कार्य करते हैं। मैंने जिन विद्वानो के ग्रंथो एवं विचारो से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लाभ उठाया है उनके प्रति श्रद्धावनत होकर मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

मेरा यह परम सौभाग्य है कि मुझे आचार्य मुंशीराम शर्मा, सोम एम०ए०, पी एच० डी० डी० लिट०, (भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी-विभाग डी० ए० वी० कालेज,

कानपुर) के श्री चरणों मे बठने का सुअवसर प्राप्त हआ है। उनक परम उदार सत हृदय ने मेरे विद्यार्थी एव साहित्यिक जीवन का बनाया एव सँवारा है। प्रस्तुत प्रबध में भी सदा की ही भाति मैं उनक मूल्यवान विचारों एव सत्परामर्शों से लाभान्वित हुआ हूँ। मैं किन शब्दों में उनक प्रति अपना आभार व्यक्त करूँ। अस्तु मेरी मौन श्रद्धा ही उनके चरणों म समर्पित है।

पूज्य गुरुवर प० अयोध्यानाथ शर्मा (भूतपूव अध्यक्ष सनातन धम कालेज कानपुर) के सत्परामश द्वारा मेरे इस प्रबध क विषय का सूत्रपात हुआ था। मेरे प्रति उनकी जो ममता है तथा उनके सहज वात्सल्य को प्राप्त कर जो मुझे शक्ति मिलती है, वह कभी भी न तो मेरी वाणी का विषय बन पाई है और न बन सकगी।

सत-साहित्य में अरबी-फारसी के शब्दों-सम्बन्धी विवेचन म मैं श्रद्धय प० रामदुलारे अवस्थी के परामर्शों स विशेष लाभान्वित हुआ हू। उन्होंने मेरे जीवन की प्रत्येक उपलब्धि को बडी लालसा एव सतोष के साथ देखा है। इस मैं अपने प्रति उनका सहज स्नेह मानता हू। अग्रज डा० श्रीनारायण अग्निहोत्री प० दीनबन्धु जी त्रिवेदी एम० ए० एव अनुज प० मगलाप्रसाद अग्निहोत्री एम० ए० मेरे जीवन की निधि क रूप म हैं। इनका सतत सहयोग मेरी जीवन-यात्रा का सम्बल है। चिरजीवी डा० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी (पी० सी० एस०), श्री जगदीशप्रसाद द्विवेदी एम० ए० तथा श्री रामस्वरूप त्रिपाठी एम० ए० विभिन्न रूपों में मेरे पारिवारिक जीवन क अग हैं। अपनी स्वभावगत सरलता एव शालीनता द्वारा प्रस्तुत प्रबध क रचना-काल में इन सभी व्यक्तियों ने समय-समय पर जो सहायता प्रदान की है उसक प्रति आभार मात्र व्यक्त करके मैं कसे उऋण हो सकता हू। सच तो यह है कि मैं इनसे उऋण भी नहीं होना चाहता।

इनके अतिरिक्त स्मृतिपटल पर अकित न होने वाली जिन अन्य प्रत्यक्ष एव परोक्ष प्रेरणाओं ने मेरा उत्साह वर्द्धन किया है उन सबके प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में एक निवेदन और, प्रस्तुत प्रबध मेरे विचार स एक नवीन दिशा की ओर प्रथम प्रयास मात्र है। इसका क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि अन्य प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति इस सबध में अधिकाधिक उपयोगी सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रबध द्वारा यदि बुधजनों का कुछ भी अनुरजन हो सका तो इस मैं उनकी सहज उदारता एव अपना परम सौभाग्य समझूगा।

गुरु पूर्णिमा
सवत २०२२

—प्रेमनारायण शुक्ल

संक्षिप्त संकेत

अ०	अध्याय
ऋ०	ऋग्वेद
क० ग्र०	कबीर ग्रंथावली
क० बी०	कबीर बीजक
क० सा०	कबीर साहब
क० ज्ञान०	कबीर ज्ञान गूदड़ी
क० शब्द०	कबीर शब्दावली
गुलाल०	गुलाल साहब की बानी
चरन०, चरनदास	चरनदास की बानी
दरिया०	दरिया साहब की बानी
दा० द० दादू०	दादू दयाल की बानी
दूलन०	दूलन साहब की बानी
धरमदास०	धरमदास की बानी
धरनी० धरनीदास०	धरनीदास की बानी
पृ०	पृष्ठ
बुल्ला०	बुल्ला साहब की बानी
बा०	बानी
भा०	भाग
भीखा० भीखादास०	भीखादास की बानी
मलूक० मलूकदास०	मलूकदास की बानी
यजु०	यजुर्वेद
यारी०	यारी साहब की बानी
रत्न०	रत्नावली
बृह०	बृहदारण्यक उपनिषद
शिव०	शिवसंहिता
सहजो०	सहजोबाई की बानी
स० बा० स०	संतबानी संग्रह
स० सु०	संत सुधासार
स्क०	स्कन्द पुराण

विषय-सूची

अध्याय पष्ठ सख्या



संत-साहित्य

संत-समीक्षा

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सत्य ॥

—ऋग्वेद ८।१९।२६

ऊपर उद्धृत मंत्र में सत्य शब्द परमात्मा का विशेषण है। सत्य से अभिप्राय है होने के योग्य। परमात्मा ही एक ऐसी सत्ता है जो समग्रभावेन होने के योग्य है। वही एक ऐसी शक्ति है जो है और जो है वही औरों के अस्तित्व का भी कारण है। अतः अस्तित्व की आकांक्षा रखने वाले उसी की शरण में जायेंगे उसी का भजन करेंगे। सत्य का अर्थ ही है ऐसी सत्ता जिसका भजन किया जा सकता है। अस्तु सत्य का अर्थ होगा सभजनीय अर्थात् जिसके गुण गाये जाएं। वेद में सन्, सत्ता तथा सत शब्दों का प्रयोग भी सत शब्द के अर्थ में हुआ है।[1]

अध्यात्म विद्या के सुगूढातिगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने वाले उपनिषद्[2] ग्रन्थों में परमात्मा को सत्यम् कहा गया है—

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि 'सति यमिति" तद्यत् 'सत्"
तदमृतमथ यत् 'ति' तन्मर्त्यमथ यत् 'यम' तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे
यच्छति तस्मात् 'यम' अहरहर्वा एव वित्स्वर्गं लोकमेति।

—छान्दोग्य उपनिषद् ८।३।५

१— त्वहि अग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता। ऋ० ८।४३।१४
एकं सत विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ० १।१६४।४६

२— उपनिषद् = उप—नि—सद—क्विप। सद धातु का अर्थ है विशरण (नाश होना), गति (प्राप्त होना), अवसादन (शिथिल करना)। अस्तु उपनिषद् का तात्पर्य है वह विद्या विशेष जिसके द्वारा अविद्या का विनाश होता है और ब्रह्म की प्राप्ति होती है तथा जिसके सतत अनुशीलन द्वारा जन्म-मरण के दुख शिथिल पड़ जाते हैं। कठोपनिषद् के शांकरभाष्य के उपोद्घात में इसे ब्रह्म विद्या कहा गया है।

सत्यम श-द स ति और यम के योग स बनता है। स का तात्पय अमरता अर्थात जीव है। ति स तात्पय है नाशवान जगत। यम का अथ है जीव और नाशवान जगत। इन दोनो को वश म--नियम म रखने वाला अर्थात ईश्वर। इसीलिए ईश्वर की सना हुई सत्यम। इस सत्यम--ईश्वर का जानना बडा कठिन है। इस पर नाना प्रकार क आवरण पड हुए हैं। ईशोपनिषद म कहा गया है कि सत्य का मुख हिरण्मय पात्र स ढका है। अत वहाँ ईश्वर स प्राथना की गई है कि सत्य की सप्राप्ति क लिए वह आवरण हट जाव --

हिरण्मयेन पात्रण सत्यस्यापिहित मुखम।
तत्त्व पूषन्नपावणु सत्यधर्माय दृष्टये।
--ईशोपनिषद, मत्र १५

यह आवरण क्या है? यह आवरण अनृत--असत का आवरण है। जिस प्रकार अरणी म व्याप्त अग्नि का भूमि व्याप्त घन राशि का ज्ञान हम नही हो पाता उसी प्रकार अन्तस्तल म स्थित ब्रह्म का ज्ञान भी अनत के आवरण के कारण नही हो पाता। इसीलिए इस आवरण के हटाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आवरण के हटते ही उस परम सत का दशन उपलब्ध हो जाता है।

गीता के सत्रहवें अध्याय म सत और असत की विवेचना इस प्रकार की गई है--

सदभावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द पाथ युज्यते ॥२६॥
यज्ञेतपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते।
कर्म चव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुत दत्त तपस्तप्त कृत च यत।
असदित्युच्यते पाथ न च तत्प्रत्य नो इह ॥२८॥

ब्रह्म म ही मन क अटके रहने की स्थिति का नाम है सदभाव। साधन क्रिया म अविरत रूप म सलग्न रहन की स्थिति की सज्ञा है साधुभाव। जितन प्रशस्त कम हैं उन्ह सत कहा जाता है। प्रशस्त का अथ है (प्र+शस+क्त) प्रशसा क योग्य। मगल विधान करन वाल--कल्याणकारी कम ही सत कोटि म आत है। आत्यन्तिक मगल का विधान तभी सभव है जब मन निष्काम भाव से ब्रह्म म लीन हो जाए। जिस साधना की सम्पन्नता क आधार स यह परम शान्ति की मगलमय स्थिति प्राप्त होती है उस ही सत कहा जायगा और जो उस मगलविधान के कम म सलग्न है उस साधु की पदवी प्राप्त होगी। यज्ञ (क्रिया) काल म तपस्या (कूट स्थावस्था) म एव जीव क कल्याण क लिए किए गए दान म जो स्थिति होती है वह सब सदभाव ही है। इसी सद्भाव को ब्रह्मभाव भी कहा जाता है क्योकि इन

समस्त कार्यों म ब्रह्म का ही मूल उद्देश्य विद्यमान रहता है। कोई भी काय ब्रह्म स पृथक नही रहना है। जो साधु प्राणी इस साधना म सिद्धि प्राप्त कर लत हैं व ही सच्चे साधु माने जाते हैं। इन साधुओं क समस्त कम विधान सत्यमय ही होता है। कम का तत्त्वीय होना आवश्यक है। कम का तत्त्वीय रूप ही जिस गीता ने यज्ञार्थ कम कहा है और जो कम बंधन का कारण नही बनता सात्विक रूप की सष्टि करता है। इस रूप म श्रद्धा का विकास और अभिमान का विनाश हो जाता है। श्रद्धा सवलित कम का रूप केवल भगवत्प्रीत्यर्थ होने के कारण सत माना जाता है। इसके विपरीत फलाफल, लाभ हानि-जनित अथवा प्रवत्ति परक कम असत माने जाते हैं। कामोपभोग से मुक्त होकर सत्व शुद्धि की प्राप्ति क लिए ही "ॐ तत सत" मन्त्र का उपदेश दिया जाता है।

ऐसा व्यक्ति जिसने ससार की असारता का समझ लिया है और इसक प्रपचात्मक रूप से पूण विरक्त हाकर उस अणोरणीयान—महतोमहीयान् के प्रति निष्काम भाव से अपनी समस्त प्रवत्तिया एव क्रिया शक्ति को समग्रत अर्पित करके उसी में पूणत लय हो गया है, वह सत पदवी का अधिकारी है। ससार के प्रति पूण उपरामता की स्थिति ही सात्विक स्थिति है। इसी म सत भाव एव साधुभाव का उदय होता है।

वार्ता-साहित्य म सत शब्द का प्रयोग अनेक बार आया है। नमिषारण्य म जिन शौनक ऋषि तथा उनके साथ के अट्ठासी सहस्र ऋषि मुनियों ने दीघ कालीन सत्र किया था वे सब सत कोटि के ही प्राणी थ।

इस प्रकार सतो की परम्परा भारतीय साहित्य के मूल स्रोत तक पहुचती है। वदिक साधना को लेकर दो प्रकार क व्याख्या परक ग्रथ हमारे सामने आते हैं। एक ब्राह्मण-ग्रथ और दूसरे उपनिषद ग्रथ। ब्राह्मण ग्रथ कमकाण्ड की उपादेयता प्रतिपादित करते हुये ब्रह्मानुभूति क लिये जप-तप, व्रतादि अनुष्ठानो की आवश्यक बताते हैं किन्तु उपनिषद ग्रथों के ऋषियों न भक्ति के स्वरूप को ज्ञानकाण्ड के आधार से प्राप्त करना चाहा। बल्कि भक्ति अपने मूलरूप म लोक परलोक दोनो का समन्वय स्थापित करती हुई चली। पर कालान्तर मे आध्यात्मिक जीवन एव लौकिक जीवन का सतुलित रूप मिटने लगा। भागवत धम के विकास क्रम का विवेचन करते हुये विद्वद्वर डा० मुन्शीराम शर्मा का कथन है कि भागवत धम, हमारी समभ म इसी प्रकार की परिस्थिति म उत्पन्न हुआ होगा। जब वेद का वास्तविक अथ विस्मृत हो चुका था और वदिक पुरोहित उसक वाह्य रूप अर्थात याज्ञिक विधि विधान स ही चिपटे हुए थ।"[1] आग चल कर महाभारत काल के एम कितने हा प्रसग आते हैं जहाँ ब्राह्मण अपनी हिंसापरक प्रवत्ति का प्रदशन करता है किन्तु

१— डा० मुन्शीराम शर्मा—भक्ति का विकास पृष्ठ २३९

सत्यम न् स ति और यम क योग स बनता है। स का तात्पय अमरता अर्थात जीव है। ति स तात्पय है नाशवान जगत। यम का अथ है जीव और नाशवान जगत। इन दोनो को वश म—नियम म रखने वाला अर्थात ईश्वर। इसीलिए ईश्वर की सना हुई सत्यम। इस सत्यम—ईश्वर का जानना बडा कठिन है। इस पर नाना प्रकार के आवरण पड हुए हैं। ईशोपनिषद म कहा गया है कि सत्य का मुख हिरण्मय पात्र स ढका है। अत वहाँ ईश्वर से प्रायना की गई है कि सत्य की सप्राप्ति क लिए वह आवरण हट जाव —

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम ।
तत्व पूषन्नपावण सत्यधर्माय दष्टये ।

—ईशोपनिषद, मत्र १५

यह आवरण क्या है ? यह आवरण अनृत–असत का आवरण है। जिस प्रकार अरणी म व्याप्त अग्नि का भूमि व्याप्त धन राशि का ज्ञान हम नही हो पाता उसी प्रकार अन्तस्तल म स्थित ब्रह्म का ज्ञान भी अनत के आवरण क कारण नही हो पाता। इसीलिए इस आवरण के हटाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आवरण के हटते ही उस परम सत का दशन उपलब्ध हो जाता है।

गीता क सत्रहवें अध्याय म सत और असत की विवेचना इस प्रकार की गई है—

सदभावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कमणि तथा सच्छब्द पाथ युज्यते ॥२६॥
यज्ञेतपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते ।
कम चव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुत दत्तं तपस्तप्त कृत च यत ।
असदित्युच्यते पाथ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ब्रह्म म ही मन क अटके रहने की स्थिति का नाम है सदभाव। साधन क्रिया म अविरत रूप म सलग्न रहन की स्थिति की सज्ञा है साधुभाव। जितन प्रशस्त कम हैं उन्ह सत कहा जाता है। प्रशस्त का अथ है (प्र+शस+क्त) प्रशसा क योग्य। मगल विधान करन वाले–कल्याणकारी कम हो सत कोटि म आत है। आत्यन्तिक मगल का विधान तभी सभव है जब मन निष्काम भाव स ब्रह्म म लीन हो जाय। जिस साधना की सम्पन्नता क आधार स यह परम शान्ति की मगलमय स्थिति प्राप्त होती है उस ही सत कहा जायगा और जो उस मगलविधान के कम म सलग्न है उस साधु की पदवी प्राप्त होगी। यज्ञ (क्रिया) काल म तपस्या (कूट स्थावस्था) म एव जीव के कल्याण क लिए किए गए दान म जो स्थिति होती है वह सब सदभाव ही है। इसी सदभाव को ब्रह्मभाव भी कहा जाता है क्योकि इन

समस्त कार्यों म ब्रह्म का ही मूल उद्देश्य विद्यमान रहता है। कोई भी काय ब्रह्म से पथक नही रहता है। जो साधु प्राणी इस साधना म सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं वे ही सच्चे साधु माने जाते हैं। इन साधुओ का समस्त कम विधान सत्यमय ही होता है। कम का तदर्थीय होना अत्यावश्यक है। कम का तदर्थीय रूप ही जिस गीता न मदाथ कम कहा है और जो कम बधन का कारण नही बनता सात्विक रूप की सष्टि करता है। इस रूप म श्रद्धा का विकास और अभिमान का विनाश हो जाता है। श्रद्धा सवलित कम का रूप कवल भगवत्प्रीत्यथ होने के कारण सत माना जाता है। इसके विपरीत फलाफल, लाभ हानि-जनित अथवा प्रवत्ति परक कम असत माने जाते हैं। कामोपभोग स मुक्त होकर सत्व शुद्धि की प्राप्ति क लिए ही "ॐ तत सत" मन्त्र का उपदेश दिया जाता है।

ऐसा व्यक्ति जिसने ससार की असारता का समय लिया है और इसके प्रपचात्मक रूप स पूण विरक्त होकर उस अणोरणीयान—महतामहीयान् के प्रति निष्काम भाव स अपनी समस्त प्रवत्तियां एव क्रिया शक्ति का समप्रण अपित करके उसी म पूणत लय हो गया है वह सत पदवी का अधिकारी है। ससार क प्रति पूण उपरामता की स्थिति ही सात्विक स्थिति है। इसी म सत भाव एव साधुभाव का उदय होता है।

वार्ता-साहित्य म सत शब्द का प्रयोग अनक वार आया है। नमिषारण्य में जिन शौनक ऋषि तथा उनके साथ के अट्ठासी सहस्र ऋषि मुनियो न दीघ कालीन सत्र किया था वे सब सत कोटि के ही प्राणी थे।

इस प्रकार सतो की परम्परा भारतीय साहित्य क मूल स्रोत तक पहुँचती है। वदिक साधना को लेकर दो प्रकार क व्याख्या परक ग्रथ हमारे सामने आते हैं। एक ब्राह्मण ग्रथ और दूसरे उपनिषद ग्रथ। ब्राह्मण ग्रथ कमकाण्ड की उपादयता प्रतिपादित करते हुये ब्रह्मानुभूति के लिये जप-तप व्रतादि अनुष्ठानो की आवश्यक बताते है, किन्तु उपनिषद ग्रथो क ऋषियो न भक्ति के स्वरूप को ज्ञानकाण्ड के आधार स प्राप्त करना चाहा। वदिक भक्ति अपने मूलरूप म लोक परलोक दोनो का समन्वय स्थापित करती हुई चली। पर कालान्तर म आध्यात्मिक जीवन एव लौकिक जीवन का सतुलित रूप मिटने लगा। भागवत धम के विकास क्रम का विवचन करते हुये विद्वद्वर डा० मुन्शीराम शर्मा का कथन है कि भागवत धम हमारी समझ म इसी प्रकार की परिस्थिति म उत्पन्न हुआ होगा। जब वद का वास्तविक अथ विस्मृत हो चुका था और वदिक पुरोहित उसके बाह्य रूप अर्थात याज्ञिक विधि विधान स ही चिपट हुए थ।[1] आग चल कर महाभारत काल क एसे कितने ही प्रसग आते हैं जहाँ ब्राह्मण अपनी हिंसापरक प्रवत्ति का प्रदर्शन करता है, किन्तु

१– डा० मुन्शीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृष्ठ २३८

सत्यम न्न स ति और यम के योग स बनता है। स' का तात्पय अमरता अर्थात जीव है। ति स तात्पय है नाशवान जगत। यम का अथ है जीव और नाशवान जगत। इन दोनो को वश म—नियम म रखन वाला अर्थात् ईश्वर। इसीलिए ईश्वर की सज्ञा हुई सत्यम। इस सत्यम—ईश्वर का जानना बडा कठिन है। इस पर नाना प्रकार क आवरण पडे हुए हैं। ईशोपनिषद म कहा गया है कि सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका है। अत वहा ईश्वर स प्राथना की गई है कि सत्य की सप्राप्ति के लिए वह आवरण हट जाव —

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम।
तत्त्व पूषन्नपावण सत्यधर्माय दृष्टये।

—ईशोपनिषद, मत्र १५

यह आवरण क्या है? यह आवरण अनृत-असत का आवरण है। जिस प्रकार अरणी म व्याप्त अग्नि का भूमि व्याप्त धन राशि का ज्ञान हम नही हो पाता उसी प्रकार अन्तस्तल म स्थित ब्रह्म का ज्ञान भी अनन्त क आवरण के कारण नही हो पाता। इसीलिए इस आवरण के हटाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आवरण क हटते ही उस परम सत का दशन उपलब्ध हो जाता है।

गीता के सत्रहवें अध्याय म सत और असत की विवेचना इस प्रकार की गई है—

सदभावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कमणि तथा सच्छब्द पाथ युज्यते ॥२६॥
यज्ञतपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते।
कम चव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुत दत्त तपस्तप्त कृत च यत।
असदित्युच्यते पाथ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ब्रह्म मे ही मन के अटके रहने की स्थिति का नाम है सदभाव। साधन क्रिया म अविरत रूप स सलग्न रहन की स्थिति की सज्ञा है साधुभाव। जितन प्रशस्त कम हैं उन्ह सत कहा जाता हैं। प्रशस्त का अथ है (प्र+शस+क्त) प्रशसा के योग्य। मगल विधान करन वाले—कल्याणकारी कम ही सत कोटि म आते हैं। आत्यन्तिक मगल का विधान तभी सभव है जब मन निष्काम भाव से ब्रह्म म लीन हो जाय। जिस साधना की सम्पन्नता के आधार से यह परम शान्ति की मगलमय स्थिति प्राप्त होती है उसे ही सत कहा जायगा और जो उस मगलविधान क कम म सलग्न है उसे साधु की पदवी प्राप्त होगी। यज्ञ (क्रिया) काल म तपस्या (कूट स्थावस्था) म एव जीव के कल्याण के लिए किए गए दान म जो स्थिति होती है वह सब सदभाव ही है। इसी सदभाव को ब्रह्मभाव भी कहा जाता है क्योकि इन

समस्त कार्यों में ब्रह्म का ही मूल उद्देश्य विद्यमान रहता है। कोई भी कार्य ब्रह्म से पृथक नहीं रहता है। जो साधु प्राणी इस साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं वे ही सच्चे साधु माने जाते हैं। इन साधुओं के समस्त कर्म विधान सत्यमय ही होता है। कर्म का तदर्थीय होना अत्यावश्यक है। कर्म का तदर्थीय रूप ही जिसे गीता ने यज्ञार्थ कर्म कहा है और जो कर्म बंधन का कारण नहीं बनता सात्विक रूप की सृष्टि करता है। इस रूप में श्रद्धा का विकास और अभिमान का विनाश हो जाता है। श्रद्धा संवलित कर्म का रूप केवल भगवत्प्रीत्यर्थ होने के कारण सत माना जाता है। इसके विपरीत फलाफल, लाभ हानि-जनित अथवा प्रवृत्ति परक कर्म असत माने जाते हैं। कामोपभोग से मुक्त होकर सत्व वृद्धि की प्राप्ति के लिए ही 'ॐ तत सत' मंत्र का उपदेश दिया जाता है।

ऐसा व्यक्ति जिसने संसार की असारता को समझ लिया है और इसके प्रपंचात्मक रूप से पूर्ण विरक्त होकर उस अणोरणीयान—महतोमहीयान के प्रति निष्काम भाव से अपनी समस्त प्रवृत्तियाँ एवं क्रिया शक्ति का समग्रतः अर्पित करके उसी में पूर्णतः लय हो गया है वह संत पदवी का अधिकारी है। संसार के प्रति पूर्ण उपरामता की स्थिति ही सात्विक स्थिति है। इसी में संत भाव एवं साधुभाव का उद्भव होता है।

वार्ता-साहित्य में संत शब्द का प्रयोग अनेक बार आया है। नैमिषारण्य में जिन शौनक ऋषि तथा उनके साथ के अट्ठासी सहस्र ऋषि मुनियों ने दीर्घ कालीन सत्र किया था वे सब संत कोटि के ही प्राणी थे।

इस प्रकार संतों की परम्परा भारतीय साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँचती है। वैदिक साधना को लेकर दो प्रकार के व्याख्या-परक ग्रंथ हमारे सामने आते हैं। एक ब्राह्मण ग्रंथ और दूसरे उपनिषद् ग्रंथ। ब्राह्मण ग्रंथ कर्मकाण्ड की उपादेयता प्रतिपादित करते हुए ब्रह्मानुभूति के लिए जप-तप, व्रतादि अनुष्ठानों को आवश्यक बताते हैं किन्तु उपनिषद् ग्रंथों के ऋषियों ने भक्ति के स्वरूप को ज्ञानकाण्ड के आधार से प्राप्त करना चाहा। वस्तुतः भक्ति अपने मूलरूप में लोक परलोक दोनों का समन्वय स्थापित करती हुई चली। पर कालान्तर में आध्यात्मिक जीवन एवं लौकिक जीवन का सन्तुलित रूप मिटने लगा। भागवत धर्म के विकास क्रम का विवेचन करते हुए विद्वद्वर डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि 'मन्त्रद्रष्टा हमारी समझ में इसी प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न हुआ होगा। जब वेद का वास्तविक अर्थ विस्मृत हो चुका था और वैदिक पुरोहित उसके बाह्य रूप अर्थात् यान्त्रिक विधि विधान से ही चिपटे हुए थे।'[1] आगे चल कर महाभारत काल के एेसे स्थल ही प्रसंग आते हैं जहाँ ब्राह्मण अपनी हिंसापरक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है किन्तु

१– डा० मुंशीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृष्ठ २८

ऋषि अहिंसा धर्म का पालन करने के लिए अपनी समस्त शक्तियों से सचेष्ट एवं सक्रिय दिखाई पड़ता है। भागवत भक्ति हिंसा प्रधान यज्ञ अनुष्ठानों के नितान्त विपरीत थी। इसमें जातिगत संकीर्णता को हटा कर सभी जातियों के प्राणी चाहे वे पापी हों या पुण्यात्मा समान रूप से भक्ति के अधिकारी मान गये—

किरातहूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा आभीरकङ्का यवना खसादय ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवेनमः ॥

—श्रीमद्भागवत २।४।१८

ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर होने वाले द्रव्य यज्ञों के स्थान पर प्राणयज्ञ ज्ञानयज्ञ आदि का प्रचार किया गया। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१५।४) में लिखा है अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्य वचनमिति ता अस्य दक्षिणा। जो तप, दान सरलता अहिंसा और सत्य वचन है वही यज्ञ की दक्षिणा है। इन शब्दों से द्रव्य रूप दक्षिणा का ही नहीं द्रव्यमय यज्ञों का भी निषेध हो जाता है। गीता (४।३३) में भी द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञानमय यज्ञ को श्रेष्ठ कहा गया है[1]। इस ज्ञानयज्ञ में समस्त कर्म अपने फलों के साथ परिसमाप्त होते हैं।

उपनिषद ग्रंथों में श्रेय और प्रेय मार्ग तथा परा और अपरा विद्या[3] को लेकर जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है वह पारलौकिक आध्यात्मिक ज्ञान की ही महत्ता प्रतिपादित करता है। परा विद्या द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान की सम्प्राप्ति गुरू के बिना सभव नहीं है। इसी से भक्ति के इस विकास क्रम में गुरू का महत्व भी प्रतिपादित किया गया। कठोपनिषद का कथन है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

१।३।१४

यहाँ पर ऋषि का उदबोधन है कि आलस्यमयी निद्रा में सोने वाले ऐ प्राणियो! यह अविद्यात्मक निद्रा तुम्हारे जीवन के लिए अत्यन्त भयावह है। अत

१— श्रेयान द्रव्यमयाद यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ परंतप।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

२— श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौसम्परीत्य विविनक्ति धीर।
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद वृणीते॥

—कठोपनिषद १।२।२

३— तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

—मुण्डक १।१।५

चनन्य होकर उठो और ब्रह्मज्ञानी (गुरु) की खोज करके उससे अपनी वास्तविक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करो। वस्तुतः अध्यात्म विद्या अत्यन्त गुह्य विद्या है जिसका ज्ञान बिना गुरु के संभव ही नहीं। गु का अर्थ है अन्धकार और रु का अर्थ है निरोधक। गुरु ही अंधकार को दूर करके ज्ञान का प्रकाशपुंज प्रदान करता है।

उपनिषद् ग्रंथों की चिंतनपद्धति को जैनियों एवं बौद्धों ने भी स्वीकार किया। उपनिषद् के ऋषियों की भांति ही इन सम्प्रदाय वालों ने हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध किया। कर्मकाण्ड प्रधान भक्ति के स्थान पर प्रभु की आन्तरिक साधना पर इन दोनों सम्प्रदायों ने विशेष बल दिया। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद ग्रंथों के ऋषि जैनियों के तीर्थंकर और बौद्धों के श्रमण, परिव्राजक अर्हत आदि सब एक सी ही विचार परम्परा के पोषक थे। ये साधु महात्मा जिन्हें ब्रह्मतत्ववेत्ता होने के कारण संत कहा गया है भक्ति के बाह्याचार संबंधी रूप पर आस्था नहीं रखते थे। भक्ति के साधन उनके लिये महत्वहीन थे क्योंकि साधारणतः लोग उन साधनों—जप-तप यज्ञ पूजा पाठ व्रत, दान आदि को ही भक्ति मान बैठे थे। ये रूप भक्ति की प्रारंभिक अवस्था में मान जा सकते हैं पर दुर्बल मन प्रायः इन्हीं के महत्व से अभिभूत होकर इन्हीं तक सीमित रह जाता है और उसके मन में कर्ता होने का दम्भ अहंकार घर कर लेता है। अहंकार के जाग्रत होते ही चित्त की सात्विक स्थिति नष्ट हो जाती है और सात्विक भाव की अनुपस्थिति में संत एवं साधु भाव कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इसीलिए ज्ञानकाण्ड के मानने वाले संतों ने उस परम संत की अनुभूति प्राप्त करने के लिए अन्तस्साधना पर विशेष बल दिया है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की भांति हिन्दी के संत कवियों ने भी गुरु की महिमा का उल्लेख किया है। यथा—

कोई वादी कोई विवादी, जोगी कौं वाद न करना।
अठसठ तीरथ समदि समावै, यूं जोगी कौं गुरमुखि जरना॥

—गोरखबानी, पृष्ठ ५

सच्चा जोगी खंडन मण्डन के पचड़े में नहीं पड़ता है। जिस प्रकार अड़सठों तीर्थों (नदियों) का जल समुद्र में समाता है उसी प्रकार शिष्य को भी अपने गुरु के प्रति पूर्ण आस्था रखनी चाहिए और उसी की वाणी को—उपदेश को मनन चिंतन द्वारा निरन्तर पचाना (जरना) आत्मसात करना चाहिए। मुंडक का ऋषि भी शिष्य के कर्तव्य का निर्देश करता हुआ कहता है कि परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिष्य को जिज्ञासु रूप में गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर (समित्पाणि) जाना चाहिए। इस प्रसंग में ऋषि ने गुरु की भी व्याख्या कर दी है कि वह वेदज्ञाता तथा ब्रह्मनिष्ठ हो—

१— गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।

—अद्वयतारकोपनिषद।

"तद्विज्ञानाथ स गुरुमवाभिगच्छेत्समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम"
—मुण्डक १।२।१२

सत कवियो ने गुरु-सबधी अपने विचार इस प्रकार यक्त किये हैं—

अगम अगोचर रहे निरतरि गुरु किरपा ते लहीऐ ।
कहु कबीर बलि जाउ गुरू अपने सतसगति मिलि रहीऐ ।
—कबीर

दादू देव दयालु की गुरु दिखाई बाट ।
ताला कूची लाइ करि, खोले सब कपाट ॥
—दादू

गुरु तरुवर अग डाल बहु पत्र बन फल राम ।
रज्जब छाया म सुखी चाख्यू सर सुकाम ॥
—रज्जब

मौज करी गुरुदेव दया करि सबद सुनाय कह्यौ हरि मेरो ।
ज्यों रवि के प्रगटे निसि जात सु दूरि कियो भ्रम भानु अधेरो ।
कायक वायक मानसहू करिहै गुरुदेवहि वदन मेरो ।
सु दरदास कहै कर जोरि जु दादू दयाल को हू नित चेरो ॥
—सु दरदास

दरिया सतगुरु सब्द सों, मिट गई खचातान ।
भरम अधेरा मिट गया, परसा पद निर्वान ॥
—दरिया

उपनिषदकाल स लेकर भक्तिकाल तक की इस परम्परा को देखने से यह भी पता चलता है कि हमारे ऋषि सत या गुरु देश काल के अनुसार अपनी कायपद्धति या कायसीमा को परिवर्तित करते रहे हैं। उपनिषद काल का ऋषि लौकिक व्यक्ति की ही भांति अपना लोक-व्यवहार चलाता है पर उसका एक मात्र लक्ष्य है अध्यात्म चिंतन। वह प्रत्येक लौकिक कमकाण्ड की आध्यात्मिक व्याख्या उपस्थित कर देता है। यह स्थिति रामायण काल क प्रारभ तक चलती है। रामायण काल म आकर ऋषि (सत) को विशिष्ट महत्व प्राप्त होता है। उसकी सम्मति क बिना किसी भी गुरुतापूण काय का होना सभव नही है। वह विभिन्न यज्ञादि कम काण्डो का विधान करता है। लोकपणा की दृष्टि से वह अपन मानापमान का ध्यान भी रखता है पर आत्मस्थ होन के कारण वह निरभिमानी भी है। महाभारत काल तक आते-आते एसा प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति अध्यात्मचिंतन म रत हैं

वे लोक सम्पर्क से कुछ अधिक दूर हो गए हैं। उदाहरणार्थ नारद और व्यास को ही ले लीजिए। ये नाना अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं और कभी-कभी इनका प्रयोग भी करते हैं किन्तु सामान्यतः ये लोकजीवन के प्रति उदासीन हैं। इस स्थिति की प्रतिक्रिया का होना भी स्वाभाविक था जो भगवान कृष्ण द्वारा प्रारम्भ हुई। उन्होंने निष्काम कर्म की प्रतिष्ठा की—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
गीता ३।३०॥

बौद्ध काल तक आते-आते गुरु की प्रतिष्ठा बढ़ती है। 'संघं शरणं गच्छामि बुद्धं शरणं गच्छामि' से स्पष्ट है कि लोक-जीवन से ऊबा हुआ व्यक्ति गुरु की चरण-शरण में ही जाकर शान्ति लाभ करता है। वस्तुतः गुरु जीवन की कला सिखा देता है। उसकी संगति पाकर यह मिट्टी का शरीर सुवर्ण के समान दीप्तिवान बन जाता है। गुरु स्वतः तो साधना द्वारा सिद्धि की प्राप्ति करता ही है साथ ही अपनी सिद्धावस्था में मग्न होता हुआ लोक हित साधन भी करता है। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी इसके उदाहरण हैं। सामान्यतः बौद्धकाल में संत का वह स्वरूप विकसित होने लगता है जिसे हम मध्ययुग के मत-सम्प्रदाय में देखते हैं। इसमें तीन बातों की प्रधानता है—(१) गुरु की रहनी (२) गुरु की करनी और (३) गुरु की कथनी।

रहनी के अन्तर्गत गुरु का रहन-सहन आता है जिसमें उसके दो रूप देखे जाते हैं—एक लोकव्यवहार की रहनी और दूसरी आत्मस्थिति की रहनी। साधना पथ इसी रहनी का ही एक रूप है। इसमें हम गुरु की परहित चिंतना, मानापमान में समभावत्व, परम संतोष वृत्ति आदि पाते हैं। 'करनी' के अन्तर्गत गुरु द्वारा लोक-हित के कार्यों को सम्पन्न होता हुआ देखते हैं। गुरु सामाजिक स्थिति को सुव्यवस्थित करता है। समाजपरक एवं व्यक्तिपरक आचार-व्यवस्था को नियंत्रित करता है। 'कथनी' के अन्तर्गत गुरु के लोक-हित संबंधी उपदेश आते हैं। इसमें हम करनी और कथनी का समन्वय पाते हैं। गुरु के व्यक्तित्व का परिचय उसकी 'कथनी' में प्राप्त होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि संतों की जो परम्परा उपनिषद काल से चली उसमें कालान्तर में क्रमशः नाम-भेद होता गया और संत शब्द उन विशिष्ट महात्माओं के लिए प्रयुक्त होने लगा जो साम्प्रदायिक रूप में निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते थे। इस संबंध में विट्ठल एवं वारकरी सम्प्रदाय के नाम लिए जाते हैं। निर्गुणोपासना के कारण ही ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम के लिये संत शब्द का प्रयोग होता है। विद्वद्वर परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि "संत शब्द क्रमशः

ग्ढ-सा हा गया और कन्चित अनेक बातो म उन्हो (नानदेव, नामदवादि) के समान हान क कारण उत्तर भारत के कबीर साहब तथा अ य एस लोगा का भी पीछे वही नामकरण हा गया। [१] श्री चतुर्वेदा जी न अपन इस मत की पुष्टि म मिस्टीसिजम–न्त–महाराष्ट नामक पुस्तक क लेखक प्रा० आर० डी० रानाड क मत[२] का उल्लख किया है। व भा सत शन्द का विठठल सम्प्रन्दाय विशप की वस्तु मानत हैं। पर न्सका तात्पय यह नहा कि दूसर सम्प्रन्दाय म सन्त शब्द का प्रयाग नहा है। डा० बडथ्वाल कबीर न्दादू नानक आनि महात्माओ कॊ सन्त न कह कर निगु ण सम्प्रदाय क कवि कहते हैं। [३]

व्याकरणिक न्ष्टि म सत शन्द सस्कृत क सन शन्द का वहुवचनात [४] रूप है जा अस धातु स वनता है। अस का अथ है हाना। अस म शन्त प्रत्यय लगा कर सन शब्द बनता है। सत स तात्पय है रहने वाला अथवा होने वाला शुद्ध रूप म हान वाला या रहन वाला एकमात्र ब्रह्म ही है। न्सीलिए उस भी सत कहा गया है और साधक भी ब्रह्मनिष्ठ होने कारण अपना अस्तित्व अक्षण्ण रखता है इसीलिए उमकी भी सन्त सना हुई। न्म प्रसग म सन शन्द की व्याकरणिक व्याख्या म न लग कर सतों के स्वभाव आचरण आनि से परिचय पाना अधिक समीचीन होगा।

सत का परिचय उमका रूप नहीं गुण है। जो व्यक्ति सत चित और आनन्द रूप प्रभु म अपन को निरन्तर लीन किय रहता है वही सच्चा सन्त है। कृपा सन्त के रूप म साकार हो उठती है। मुख उसकी अन्तश्चेतना का कभी प्रमान्दी नहीं बनाता और न दुख कभी उसे कतव्यपथ स विचलित करता है। कामनाओ का कलुषित न्यापार उसकी बुद्धि को कभी मलिन नही बना सकता। उसके स्वभाव म गम्भीरता एव प्रकृति म धय का निरन्तर वास रहता है। भूख प्यास उसे कभी यथित नही करती। शाक और मोह उसे कभी चचल नही बनात। जन्म और मत्यु से वह उप रामता प्राप्त कर लेता है। श्रीमन्भागवत म भगवान कृष्ण न उद्धव स अपने भक्त का परिचय दते हुए कहा है—

---

१ उत्तरी भारत की सत परम्परा—पष्ठ ७।

2 Now Sant is almo t a technical word in the Vitthal Sampradaya and means any man who is a follower of that Sampradaya Not that th^e followers of other Sampradaya are not Santas but the fol lowers of the Varkari ampradaya are Santas par excellence P 42

3 Preface in the Nirgun school of Hindi Poetry Page 1

४ सन्त परीक्ष्यान्यतरद भजन्त मूढ परप्रत्ययनय बुद्धि। —कालिदास।

कृपालुरकृत द्रोहस्तितिक्षु सर्वदेहिनाम ।
सत्यसारो नवद्यात्मा सम सर्वोपकारक ॥
कामरहत धीर्न्तो मदु शुचिरकिंचन ।
अनीहो मितभुक शात स्थिरो मच्छरणो मुनि ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धतिमाजित षड्गुण ।
अमानी मानद कल्यो मत्र कारुणिक कवि ॥

—श्रीमद्भागवत—११।११।२९ ३१

साधारण प्राणियो के समान सन्त के समक्ष भी विषयो का जाल बिछा रहता है पर ब्रह्मानन्द-मग्न होने के कारण विषयो की मोहकता उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। वे समुद्र के समान अटल और अविकारी बने रहते हैं। समुद्र में चाहे जितना जल प्रविष्ट हो और चाहे उससे कितना ही जल निकल जाय पर उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सदैव एकरसता एव एकरूपता बनी रहती है। पर हाँ जैसे चन्द्र की अमृतोपम मरीचिकाओ को देखकर उन्हे पान के लिए वह अपनी सहस्रातिसहस्र बाहुओ से लपकता है उसी प्रकार ब्रह्मध्यानावस्थित सन्त भी उसकी सौममयी ज्योत्स्ना की सम्प्राप्ति के लिए सहस्रातिसहस्र कामनाओ को उसकी ओर सचालित करता है। उसकी समस्त कामनायें ब्रह्मामय होती हैं। वह अहकार से शून्य एव भोग-साधन में ममता-रहित होकर पूर्ण शांति का उपभोग करता है। यही भक्त की ब्राह्मी स्थिति मानी गई है जिसमें अवस्थित होकर अन्त-करण पूर्णत विशुद्ध हो जाता है। गीता का कथन है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत ।
तद्वत कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
विहाय कामान य सर्वान पुमाश्चरति निस्पृह ।
निर्ममो निरहकार स शान्तिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

—द्वितीय अध्याय, श्लोक ७०, ७१ ७२

सन्त का मन सदैव ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण दुख का बाध नहीं कर पाता। इसी हेतु वह दुख के कारणो के प्रति द्वेष का अनुभव भी नहीं करता। वह ससार के समस्त प्राणियो को कूटस्थदेव के रूप में देखता है तथा अपने घोरातिघोर शत्रु को भी मित्रवत देख कर उसके प्रति निरन्तर स्नेह की अजस्र धारा प्रवाहित करता रहता है। वह ध्यानावस्थित होकर करुणाप्लावित हृदय से अवनीतल के अगणित ताप-तप्त प्राणियो को शान्ति प्रदान करने के लिये प्रतिक्षण अपने प्रभु को बिलख-बिलख कर पुकारा करता है। वह अपनी परावस्था में पहुँच कर यही सोचा करता है कि न तो मेरा कोई अस्तित्व है और न मेरा कुछ अपना ही है। अस्तु उसके लिए के लोक

को मोह ? क्योंकि वह तो एकत्वमनपश्यत" है न ? गीता के बारहवें अध्याय में कृष्ण ने अपने प्रिय भक्त के रूप की जो व्याख्या की है वही सन्त की व्याख्या है ।[1] सन्त प्राणी आत्मज होने के कारण प्रियत्व और अप्रियत्व के चक्र म नहीं पडता । वह आनन्दोपलब्धि के लिए बाहर की दौड-धूप से सवथा दूर रहता है । क्रिया की नितान्त परावस्था म प्रतिष्ठित होने के कारण वह सवथा एक रूप, एक रस रहता है । उसका चित्त सतत उद्वेग रहित अवस्था म ससार के समस्त प्राणियो का मगल-विधान करता रहता है । श्रेयस की प्राप्ति ही उसके जीवन का मूल मन्त्र है । उसके शुद्ध अन्त करण मे आत्मा का अपापविद्ध परमानन्दभाव समुदित होता है । महात्मा कबीर ऐसे ही सन्त के मिलन की निरन्तर प्रतीक्षा किया करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि सन्त के शरीर का स्पर्श जीवन के समस्त पाप शाप को शात कर देगा—

कबीर सोई दिन भला, जा दिन सत मिलांहि ।
अक भरे भर भेंटिया, पाप सरीरौं जांहि ॥

—क० ग्र०, पृ० ५०

सतो की व्याख्या करते हुए कबीर का कथन है—

निरबरी निहकांमता, साइ सेती नेह ।
विपया सू न्यारा रहे, सतनि का अग एह ॥
सत न छाड सतई, जो कोटिक मिल असत ।
चदन भवगा बठिया तऊ सीतलता न तजत ॥

—क० ग्र०, पृ० ५०-५१

सत अपनी ब्रह्म निष्ठा के कारण ब्रह्म रूप ही हो जाता है । सत-काव्य मे ईश्वर और ब्रह्म में भेद नही माना गया

साइ सरीखे सत हैं यामे मीन न मेख ।
सत औ राम को एक क जानिये ।
दूसरा भेद ना तनिक आन ॥

—पलटू साहब की बानी ।

---

१ यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य स च मे प्रिय ॥१५
अनपेक्ष शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्त स मे प्रिय ॥१६

—गीता द्वादश अध्याय ।

महात्मा तुलसीदास भी संत और अनन्त (ब्रह्म) में भेद दृष्टि नहीं रखते—

'जानै सुसन्त अनंत समाना।' —मानस, उत्तरकांड।

साधु-संगति से ही राम की उपलब्धि हो सकती है। इस तथ्य का संतों द्वारा अनेक बार कहा गया है—/

मेरे संगी दोइ जणा, एक वष्णों एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिराव नाम॥
—क० ग्र०, पृ० ४९

साध मिलै तब ऊपजै हिरदै हरि का हेत।
दादू संगति साधु की, कृपा कर तब देत॥१९॥
साध मिलै तब हरि मिलै, तब सुख आनंद मूर।
दादू संगति साध की, राम रह्या भरपूर॥२२॥
—दादू० की बानी, प्र० भाग, साध कौ अङ्ग।

संत का हृदय बड़ा दयालु होता है। श्रीमद से रहित वह निरन्तर परोपकार वृत्ति में ही लीन रहता है।[1] इसीलिए तो महात्मा तुलसी सतसंग के सुख को स्वर्ग और अपवर्ग के सुख से भी कहीं अधिक श्रेयस्कर मानते हैं—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥
—मानस सुन्दरकांड

जीवन के दो पक्ष हैं—एक आध्यात्मिक जीवन और दूसरा भौतिक-जीवन। इन दोनों में से किसी एक के प्रति व्यक्त की गई अतिशयता जीवन के स्वाभाविक रूप की सृष्टि नहीं कर पाती। जीवन की पूर्णता उसके संतुलन में है, समन्वय में है। इस विचार के समर्थन में यहाँ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन द्रष्टव्य है कि संत वह है जो पृथ्वी पर निवास करते हुए दिव्यलोक का संदेश भूतल पर लाता है। जो पक्षी के समान आकाश में उड़ कर भी वृक्ष पर आकर विश्राम करता है। जो व्यष्टि के केन्द्र में ऊँचा उठ कर समष्टि जीवन के

---

१ ये दानेषु दयालवः स्पृशति यानल्पोऽपि न श्रीमदो।
व्यग्रा ये च परोपकारकरणे हृष्यन्ति ये याचिता।
स्वस्थाः सति च यौवनोन्मदमहाव्याधिप्रकोपेऽपि ये,
तैः स्तम्भैरिव सुस्थितैः कलिभरक्लान्ता धरा धार्यते।
—सुभाषित रत्नभाण्डागारम् पृ० ५४

प्रति आस्थावान होता है जो स्वार्थ को त्याग कर सामूहिक हित की बात सोचता है ऐसे व्यक्ति का जीवन नीरस और शून्य नहीं होता वह दिव्य आनन्द से प्लावित एवं अभय प्रेरणा से सचालित होता है। जिस क्षेत्र में इस प्रकार का एक भी व्यक्ति प्रकट हो जाय वहां ही ईश्वरीय ज्योति के साक्षात दर्शन समझने चाहिए। ईश्वर अपने आप को संतो के रूप में ही प्रकट करता है।[1]

संत-हृदय की नीति सम्पन्नता एव पर दुख-कातरता ये ऐसे दो प्रमुख गुण हैं जिनके कारण सभी प्राणी उसकी ओर खिंचे चले आते है। वह अपने को तो सदैव महत्व हीन समझता है पर दूसरे को सदा सम्मानित करने में उसे आत्मसंतोष होता है। कामादि विकारो से रहित होने के कारण उसकी चित्त की वृत्तियाँ सतत शान्त रहती हैं और इसी कारण वह जीवन में सदैव उत्फुल्लता एव उत्साह का अनुभव करता रहता है। मनसा वाचा कर्मणा प्रभु पर प्रीति होने के कारण वह समस्त प्राणियों में ब्रह्म की ही सत्ता को प्रतिभासित होता हुआ देखता है। इसीलिए वह सब का और सब उसके बन जाते है। ऐसी स्थिति में किससे प्रेम और किससे द्वेष? सभी तो उसके अपने हैं। सभी में वही आत्मतत्व विद्यमान है। अस्तु सभी के कल्याण के लिए उसके हृदय में शांत एव शीतल अमृत की धारा निरन्तर प्रवाहित रहती है। वह दूसरे के अणमात्र गुण को भी पर्वत के समान विशाल एव महान रूप में देखता है—

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूष पूर्णा
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभि प्रीणयन्त ।
पर गुण परमाणून्पर्वतीकृत्य नित्य
निज हृदि विकसन्त सन्ति सन्त कियन्त ॥

—भर्तृहरि —नीतिशतक

महात्मा तुलसीदास ने मानस के उत्तरकाड में सन्तो के इन्हा उपर्युक्त लक्षणो की विवेचना करते हुए लिखा है—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया।
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रानसम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन।

---

१ साहित्य सदन का संत साहित्य विशेषांक—१९५८।

सीतलता सरलता मयत्री । द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री ॥
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष वचन कबहू नहिं बोलहिं ।

निंदा अस्तुति उभयसम, ममता मम पदकंज ।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुन मंदिर सुख पुंज ॥

संतों के जीवन की इस पुनीत गति का देख कर ही तो पुराणकार कहता है—

"प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति संतः ।"

—स्कं० १, अ० १९ श्लोक ८



२

साहित्य-परिचय

भारतीय दष्टिकोण—

मानव मननशील प्राणी है। वह अपने मनन को सुरक्षित भी रखना चाहता है। इसके लिए भाषा एक उपकरण है। वदिक ऋषि ने भाषा की कल्पना एक बल के रूप म की है—

चत्वारि शृ गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश॥
—ऋ० ४।५७।३०

उस भाषा रूपी बल के चार सीग—नाम (सज्ञा) आख्यात (क्रिया) उपसग और निपात तीन पर (तीन लिंग—स्त्रीलिंग पुल्लिग और नपुसकलिंग) दा शिर (कृदन्त और तद्धित) सात हाथ (सात कारक—कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान सम्बन्ध और अधिकरण) हैं तथा वह त्रिधाबद्ध (तीन वचनो—एक वचन द्वि वचन और बहु वचन से बधा हुआ) है। एसा बल (भाषा) मत्य लोक मे गजन करता हुआ घुस आया है। ऋषि के इस कथन का तात्पय यह है कि वखरी वाणी ने व्याकरण सम्मत शब्दों के माध्यम से मानव भावनाओ को शाश्वत जीवन प्रदान करने का साधन दे दिया। प्राप्त साक्ष्य के आधार पर हम इस निष्कष पर पहुचते हैं कि आय जाति को कदाचित इसी वखरी वाणी का सव प्रथम दशन हुआ था। सभव है कि यह वेदवाणी उस प्रारभिक वाणी का कुछ अधिक विकसित रूप हो जिस मत्र द्रष्टा ऋषियो से पूव प्राकृत जन बोलते रहे हो। पर साहित्य का प्रथमावतार इसी वाणी म आय जाति को प्राप्त हुआ जिसे उसने अपन विभिन्न उपायो द्वारा आज तक सुरक्षित रखा है।

इस प्रकार जो साहित्य हम सव प्रथम उपलब्ध हुआ वह वदिक साहित्य ही है। इस साहित्य म वे समस्त मूल तत्व प्राप्त होते हैं जिनसे आगे चल कर विभिन्न विचार-परम्पराओं का जन्म हुआ। ये विचार परम्पराए शासन के रूप म उपस्थित हुइ। विचारो की विधि निषधात्मक अभिव्यजना के कारण यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या इस साहित्य को सज्ञा प्रदान की जाय। सामान्यत यह देखा जाता है

कि वेद को तथा तत्संबंधी साहित्य को शास्त्र की पदवी तो प्राप्त हुई पर वह साहित्य न बन सका।

वेद द्वारा कर्त्तव्य संबंधी तीन मार्ग निश्चित किए गए—(१) ज्ञान मार्ग, (२) कर्म मार्ग, (३) उपासना मार्ग। विचार संबंधी इन मार्गों ने मानवात्मा को इतना अधिक प्रभावित किया कि आज तक विचारकों के दल इन्हीं तीन मार्गों में विभक्त हैं। ये मार्ग साधना के मार्ग तो बने, पर साहित्य के मार्ग बनने का इन्हें सौभाग्य न प्राप्त हो सका। किन्तु ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में सब कुछ शासन ही नहीं है उसमें तीव्र अनुभूति की कोमल व्यंजना भी विद्यमान है। हाँ इतना अवश्य है कि यह अनुभूति शुद्ध और पवित्र आत्मा के लिये ही है। यथा—

का त उपेति मनसो वराय भुवदग्ने शंतमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परिदक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम॥

—ऋग्वेद, १।७६।१

(हे प्रभो तेरे मन को वरण करने के लिए कौन-सा उपाय है। हमारी कौन सी स्तुति तेरे लिए सुखकारी है। ऐसा यहाँ कौन है जो यज्ञ-कर्मों द्वारा तेरी शक्ति का ज्ञान कर सके। वह मन ही हमारे पास कौन सा है जिससे हम हवि प्रदान कर सकें।)

\+ \+ \+

य आपिर्नित्यो वरुणप्रियः सन्, त्वामागांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम, यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥

—ऋग्वेद ७।८८।६

(हे प्रभो, जीवात्मा तेरा सदा का बन्धु और साथी है, पर तेरा प्रिय होकर भी तेरे प्रति अपराध किया करता है। हे पूज्यदेव, पाप करते हुए हम भोग न भोगें। आप सर्वज्ञ हैं। अपने स्तुति कर्त्ता भक्त को शरण प्रदान करें।)

\+ \+ \+

भारतीय वाङ्मय के प्रारंभिक स्वरूप एवं उसके स्रोत की विवेचना में बाल्मीकि का निम्नांकित श्लोक प्रायः उद्धृत किया जाता है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः,
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

एक दिन व्याध ने क्रौंच मिथुन में से एक का वध कर दिया। बाल्मीकि की वाणी सहानुभूति से विगलित हो उठी और उनकी करुणा साहित्य के प्रथम अवतार का कारण बना। विद्वज्जनों ने उक्त श्लोक का एक दूसरा भी अर्थ[1] लिया— हे

१— मा—शोभा या लक्ष्मी। निषाद—आश्रय। त्वमगमः शाश्वतीः समाः—तुम अनन्तवर्षों तक प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। क्रौंच मिथुन—कुचा की संतति के जोड़।

शोभा से सपन्न तुम सम्व प्रतिष्ठा को प्राप्त हो क्योकि तुमने कु चावशजात काम मुग्ध युग्म (रावण-कुम्भकरण) म से एक का वध किया।

इन दोना प्रसगो के आधार से हम दो प्रकार क विचार प्राप्त होते हैं। पहला तो यह कि साहित्य की प्राथमिक विशेषता 'भाव है जिसकी ओर सकेत करते हुए किसी कवि ने कहा है— श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक । अर्थात भाव प्रवण हृदय जिस अनुभूति से विगलित हो उठे उसकी व्यजना साहित्य है। इसकी दूसरी विशेषता शब्द' है। दूसरे अथ म श्लिष्ट शब्दा के आश्रय स साहित्य का प्रथमावतार यही श्लोक माना इस दिशा की ओर सकेत कर रहा है कि साहित्य म प्रयुक्त शब्दावली केवल सकेतार्थवाचिका ही नही होती वरन उस साकेतिक अथ स सबद्ध अन्यार्थवाची भी होना चाहिए। साथ ही प्रासगिक अथ सम्बधवशात् अन्याथ की प्रतीतिकारक ध्वनि भी साहित्य का अग बनती है।

इस प्रथम श्लोक म एक वस्तु और व्यक्त हाती है जिसन साहित्य क दो रूपा को उपस्थित कर दिया है (१) यह छद स्तुतिपरक होने क कारण किसी नायक की स्तुति का वाचक है। इसस यह निष्कष निकला कि साहित्य किसी बाह्याथ साधन म प्रयुक्त हाकर किसी ख्यात चरित्र का वणन करता है। इस विचार परम्परा न महाकाव्या नाटका, आख्याना और कहानियो की सष्टि की। (२) स्वानुभूति की तीव्र व्यजना करता हुआ यही छद मुक्तक गीति परम्परा का प्रथम श्लोक है।

इस प्रकार इस प्रथम श्लोक से हम पाच विचार-माग प्राप्त हाते हैं—

१—रस सम्प्रदाय
२—ध्वनि सम्प्रदाय
३—अलकार सम्प्रदाय
४—कथानक काव्य या इति वत्तात्मक काव्य
५—स्वानुभूति परक मुक्तक काव्य

इनके अतिरिक्त साहित्य की अन्य समस्त परिभाषाए भी प्रथम श्लोक म ही अन्वित हो जायगी। प्रस्तुत विवचन भारतीय दष्टिकाण को लक्ष्य म रख कर हुआ है। भारतवष म साहित्य शब्द की व्याख्या करते हुए विद्वाना न जिस अथ पर विचार किया है वह आगे की व्याख्या स स्पष्ट हो जायगा।

व्याकरण शास्त्र की दष्टि से साहित्य शब्द के अथ पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि धा धातु क साथ क्त प्रत्यय के सयोग से हित शब्द निष्पन्न होता है। 'स' के योग स सहित का अथ हुआ साथ एकत्र। सहित का अथ है हित के साथ। इस सहित शब्द स भाववाचक सज्ञा बनाने के लिए ष्यञ प्रत्यय करने पर साहित्य

शब्द बनता है। इस प्रकार साहित्य शब्द का अर्थ हुआ सहित होने का भाव। व्याकरण-सम्मत इस अर्थ में दो बातें स्पष्ट हैं। पहली एकत्र की हुई ज्ञान राशि का होना और दूसरी इस ज्ञान राशि का मानव हितार्थ होना। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत साहित्य की यह परिभाषा—'ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है' साहित्य के शब्दार्थ के अनुकूल है।

भारतीय वाङमय में 'ज्ञान राशि के संचित कोष' को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। पहला भाग शास्त्र कहलाता है और दूसरा भाग काव्य अथवा साहित्य। शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टौ' धातु से ष्ट्रन प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है शासन। हम पहले कह आये हैं कि वैदिक साहित्य शास्त्र है। न केवल वैदिक साहित्य ही, अपितु स्मृतियों से लेकर काम-शास्त्र तक सभी शास्त्र ही हैं। इन सब में कर्तव्याकर्तव्य का ही समावेश है। यद्यपि शास्त्र शब्द से गृहीत अनेक ग्रन्थों में ऐसे प्रसंगों का अभाव नहीं है जो हृदयाह्लादकारित्व में काव्य की परिभाषा के निकट आ जाते हैं फिर भी विधि निषेधात्मक प्रवृत्ति के कारण उन समस्त ग्रन्थों को शास्त्र की संज्ञा प्राप्त हुई है।

भारतीय वाङमय का वह भाग भी जिसे साहित्य की संज्ञा दी गई है शासन करता है, परन्तु उसका शासन रहीम के इस दोहे की भाँति है—

रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जु होइ।
कहा बापुरो भानु है तप्यौ तरयनि खोइ॥

सूर्य तपता है और तारागणों की ज्योति को अपने में विलय कर लेता है। परन्तु चन्द्र का तपना (शासन) दूसरे प्रकार का है, वह तारागणों को अपनी सुधा रश्मियों से आप्यायित करता हुआ ज्योत्स्ना को छिटका देता है।

भारतीय वाङ्मय का शास्त्र मनोवृत्तियों की दीप्ति का अपहरण करके चमकता है परन्तु साहित्य मनोवृत्तियों को तृप्त करता हुआ चन्द्रिका बिखेर देता है। प्रकारान्तर शासन दोनों का है जिससे अज्ञान का अन्धकार नष्ट होता है परन्तु एक के शासन में तीक्ष्णता है अयोगी मानस उसकी ओर देख नहीं सकता, किन्तु दूसरे का शासन मृदु है योगी अयोगी सब उससे आँखें मिला कर तृप्त हो सकते हैं। इसीलिए शास्त्र शास्त्र है, उसके पास राजदण्ड है। परन्तु साहित्य साहित्य है, इसके पास मानव हित-साधन की मधुर भावना है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य की प्रमुख तीन विशेषतायें हैं—

१—हित-साधन करना
२—मानव-मनोवृत्तियों को तृप्त करना
३—मानव मनोवृत्तियों को उन्नत करना

विद्वानो ने साहित्य की अनकानेक परिभाषायें की हैं। प्रस्तुत प्रसग मे हम इनका विवेचन करते हुए यह देखने की चेष्टा करेंगे कि य सब परिभाषायें साहित्य की इन्हो तीन विशेषताओ क अन्तगत हैं।

हित-साधन

१–हित पिहित तत्साहित्यम्।
२–हित सनिहित तत साहित्यम।
३–हित सम्पादयति इति साहित्यम।

तप्ति –

४–सहित रसन युक्तम् तस्य भाव इति साहित्यम।
५–हितेन निरतिशय प्रमास्पदन इतरच्छा अनाधान इच्छा विपयण सहित साहित्यम।

उन्नयन –

६–सम्यक निहित सद्भि तत सहित तस्य भाव साहित्यम।
७–अवहित मनसा महर्षिभि तत् साहित्यम।
८–प्रहित परमेश्वरेण इति सहित तस्य भाव साहित्यम।

पहिली परिभाषा के द्वारा जिस रचना म हित छिपा हा उस साहित्य कहा गया है। उसका मूल उद्देश्य हित प्रकाशन नही होना चाहिए वह उसम छिपा रहना चाहिए। उस हित को खोज निकालना भावक हृदय का काम है। भावक हृदय इस निहित हित को अपनी अपनी रुचि के अनुसार निकाल लेते हैं। उदाहरण के लिए वाल्मीकि की रामायण मनुष्य का कतव्य की शिक्षा देती है अथवा निर्वेद का शिक्षा यह बात वाल्मीकि न कही भी नही कही पर सहृदय पाठक अपनी अपनी रुचि क अनुसार भाव ग्रहण करते हैं।

दूसरी परिभाषा के अन्तगत हित को साहित्य म सन्निहित माना गया है। अस्तु हित साहित्य सेवन का अवश्यम्भावी परिणाम होकर साहित्य सवन करने वाल के पास स्वत पहुँच जाता है।

तीसरी परिभाषा म साहित्य का हित-उत्पादन का कारण माना गया है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मन जिस प्रकार की भावनाओं मे रमण करता है। मनुष्य का आचार भी उसी प्रकार का बन जाता है। सत साहित्य की सतत सेवा मनुष्य के आचरण–निर्माण म अवश्य कारण बन सकती है। टाल्स्टाय मार्क्स से इसीलिए अधिक शक्ति-सम्पन्न है कि उसने हित-सम्पादन करने वाल साहित्य का निर्माण किया, कोरे वाद के आधार पर वर्ग–युद्ध की प्ररणा नही दी।

उक्त तीनो परिभाषाओ म साहित्य की पहिली विशेषता हित साधन करना दिखाई देती है। चौथी परिभाषा मे रस से युक्त वाक्य को साहित्य की सना दी गइ है। मानव प्रकृति के साथ रस के दो परिणाम होते हैं—(१) स्वादु (२) तोष। साहित्य की विशषता यही है कि इसका शासन स्वादु होता है और वह मनोवत्तिया को तोष प्रदान करता है। रामनाम की विशषता की ओर सकेत करत हुए तुलसी दास कहते हैं —

"स्वादु तोष सम सुगति सुधा क।"

सूर का भी कथन है —

"परम स्वादु सब ही सु निरन्तर अमित तोष उपजावे।"

यह परिभाषा साहित्य के उस परिणाम की ओर संकेत करती है जो मानव वत्ति को तप्त करके आह्लाद प्रदायक होता है।

साहित्य की पाँचवी परिभाषा म इस की ही विशेष व्याख्या दी गई है। उसको 'निरतिशय प्रेमास्पद कहा गया है।' अर्थात उसमे अधिक प्रेमास्पद कोई अन्य वस्तु नहा। प्रेमास्पद शब्द का अथ कोई पात्र विशेष न समझना चाहिए। काव्य या साहित्य पात्र स सम्बद्ध न होकर भावुक से सम्बद्ध होता है। इसी की व्याख्या आग क इस सूत्र म है—'इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषयेण। अर्थात् यह रस दूसरे की इच्छा का वशवर्ती नहीं होता, वरन स्वीय इच्छा का विषय होता है। अतएव कोई दूसरा हम रस-बोध नही करा सकता। रस-बोध तो हम स्वय होता है। हमारी मनोवत्ति की जो तप्ति काव्य विषयक आनन्द से तादात्म्य प्राप्त करके होती है उसी का नाम इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषय कहा गया है।

उक्त दोनो परिभाषाए मनोवृति को तप्त करन की भावना व्यक्त करती हैं। छठी परिभाषा के अनुसार सज्जन लोग जिसे भली प्रकार धारण करते हैं उसे साहित्य कहते हैं। तात्पय यह है कि साहित्य केवल क्षुद्र वासनाओं की वस्तु नही है वह मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियो को उन्नयन (सब्लिमेशन) की ओर प्रवृत्त करने वाली वस्तु है। यद्यपि सत और असत परस्पर सापेक्ष शब्द हैं परन्तु प्रत्येक देश और प्रत्येक काल अपने विशिष्ट मापको के द्वारा इनकी विशिष्ट परिभाषाए बनाता रहता है। उन परिभाषाओ के अनुसार सत-असत का स्वरूप निश्चय होता है और साहित्य असत् पर सत की विजय दिखाने म समथ होता है। ससार का कोई भी साहित्य इस विषय का अपवाद नहीं है।

सातवी परिभाषा के अनुसार सत का सम्यक् विकास भारतीय साधक महर्षियो म मानते हैं। महर्षि भी जिस वाङमय का निरन्तर मनन करते हैं वह साहित्य है। महर्षि वेदव्यास का श्रीमद्भागवत और महाभारत यदि साहित्य नही तो और क्या है? इस प्रकार व साहित्य की प्रवृत्ति मनुष्य की मनोवृत्ति को सदव ऊचा उठान म सहायक रही है और यह शक्ति आज भी वसी ही सजीव है।

आर्षी परिभाषा के अनुसार भारतीय साधक अपने प्रत्येक काय म परमात्मा को देखता है। उसकी समस्त गतियो का नियामक भी वही परमात्मा है। अतएव वह मानता है कि साहित्य की हित-साधक शक्ति प्रभु प्रदत्त है। वही अपनी अनुकम्पा से लोक विषयिणी मानव मनोवृत्ति का जब अलोक विषयिणी बनाने की इच्छा करता है तब साहित्य का सृजन होता है। मानव मन सांसारिकता से ऊपर उठ कर ब्रह्मा स्वाद सहोदर काव्यानन्द की प्राप्ति करके ऊचा उठता है और जिससे उसकी वत्तियो का उन्नयन होता है। इस प्रकार य अन्तिम दोनो मत भी साहित्य की तीसरी विशेषता 'उन्नयन' के अन्तगत आते हैं।

पश्चिमी दृष्टिकोण —

भारतवर्ष की साहित्य सम्बाधनी यह विचार धारा विश्वजनीन है। ससार के प्रसिद्ध भाषाओं म साहित्य का प्राथमिक स्वरूप इसी रूप म ग्रहण किया गया है। अग्रजी भाषा म साहित्य के लिए लिटरेचर शब्द का प्रयोग किया गया है। "इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका म लिटरेचर शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

A general term which in default of precise definition may stand for the best expression of the best thought reduc d to writing Its various forms are the result of race peculiariti s or of diverse individual temperament or of political circumstances securing the predominance of one social class which is thus enabled to propogate its ideas and sentim nts

'लिटरेचर' का शाब्दिक अथ अक्षर' से सम्बद्ध आसर है अर्थात वे विचार जो व्यञ्जनादि की सहायता से व्यक्त किए जाय। इस अथ मे लिटरेचर शब्द का प्रयोग उन समस्त विचारो के लिए हो सकता है जो मनुष्य की अनुभूति म किसी प्रकार आते हैं। पर साहित्य वस्तुत कोमल एव श्रेष्ठ वत्तियो की व्यञ्जना है। मथ्यूआरनाल्ड की साहित्य सम्बन्धिनी परिभाषा इसी भाव को व्यक्त करती है।[1]

कभी-कभी साहित्य का स्वरूप वयक्तिक मानस की प्रवृत्ति की विभिन्नता के कारण साहित्य की समकालीन सामान्य धारा से नितान्त विभिन्न रूप म उपस्थित होता है। मिल्टन का व्यक्तित्व और उसका साहित्य दोनो ही इस तथ्य के उत्तम उदाहरण हैं।

अग्रजी की साहित्य सम्बन्धिनी समस्त व्याख्याओ के अवलोकन करने पर यह पता चलता है कि पश्चिम के प्राचीन दार्शनिका ने ये सब व्याख्याएँ पहले ही प्रस्तुत कर दी थी। प्लेटो जीवन के तथ्यो से सीधा सबध रखने वाले ज्ञान सग्रह को साहित्य मानता है। उसका कथन है कि मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। उसकी चिन्तना के स्थायित्व के लिए साहित्य की आवश्यकता है। अतएव दार्शनिक अथवा

1 Literature is the best that has been thought and said in the world

आलोचनात्मक मार्ग पर चलने वाली उसकी चिंतना जिस ज्ञान का संग्रह करती है उसी का वाहक साहित्य बन जाता है। साहित्य के इस रूप में सौंदर्य विचारक की रचनात्मक शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है। उसकी रचनात्मक तथा विचारात्मक शक्तियों के संयोग से जिस कृति का जन्म होता है वह कला कृति कहलाती है। हम देखते हैं कि प्लेटो ने सब से अधिक बल साहित्य के अन्तरंग विचारों पर दिया है। उसके बहिरंग स्वरूप शैली को वह विचार से सदैव गौण मानता रहा है।

प्लेटो अपने दार्शनिक विचारों में समाज को अधिक महत्व समझता है। उसकी दृष्टि में साहित्य व्यक्ति की अपेक्षा समाज के लिए है। समाज की दृष्टि में वह व्यक्ति की उपेक्षा करता है। इसलिए उसने साहित्य के विचारात्मक और चारित्रिक अंश पर विशेष बल दिया है। जो वस्तु जितनी अधिक नैतिकता के निकट होगी वह उतनी ही सुंदर होगी क्योंकि कला कृतियों का प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता है और कलाकृति में कलाकार के व्यक्तित्व की नैतिकता प्रतिफलित होती है।

अरस्तू पहला पश्चिमी दार्शनिक था जिसने कलाओं की व्याख्या की है। कलाओं को पाँच भागों में विभक्त करके उसने काव्यकला को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया था। वह कला का मूल उद्गम अनुकरण में मानता है अर्थात जीवन व्यापारों की सच्ची अनुकृति का नाम ही कला है। कला के सम्बन्ध में उसका मत यह है कि शब्द के माध्यम से सत्य की अनुकृति काव्य की उत्पादिका है। शब्द-माध्यम से व्यक्त होने वाली अनुकृति में जब शब्द के साथ छन्द और गीतात्मकता का योग हो जाता है तब काव्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अरस्तू की दृष्टि में साहित्य काव्य के मौलिक तत्व इस प्रकार हैं—

१—वास्तविक जगत।
२—अनुकृति की भावना।
३—अनुकृति में शब्द—छन्द और गीतात्मकता।

अनुकृति की इस भावना को वर्डसवर्थ ने भी स्वीकार किया है। वह अपनी पुस्तक 'पोएट्री एण्ड पोएटिक डिक्शन' में कहता है —

The principal object proposed in these poems was to choose incidents and situations from common life and to relate or describe throughout as far as possible in a selection of language really used by men and at the same time to throw over them a certain colouring of imagination and above all to make these incidents and situations interesting by tracing them truely though not ostentatiously the primary laws of our nature

स्पष्ट है कि वर्डसवर्थ जीवन की वास्तविक घटनाओं के सत्य वर्णन को काव्य मानता है यद्यपि इस वर्णन में कल्पना के कुछ ऐसे रंगों की आवश्यकता

स्वीकार करता है जिससे वह वणन रुचिकर हा जाय। उसकी दृष्टि मे कला के मूल तत्व इस प्रकार है —

१—जीवन की घटनाए
२—उन घटनाओं क मूल मे मानव प्रकृति की प्राथमिक मौलिक वृत्तियाँ
३—उन वत्तियों का मनुष्य की अपनी बाली म सत्य वणन।
४—इस वणन पर कल्पना की छाया।
५—वणन की रुचिरता।

पी० बी० शली के मतानुसार कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है। कला के शैशव काल म प्रत्येक व्यक्ति एक नियम का प्रत्यक्षीकरण करता है जिसके द्वारा मनुष्य लगभग उसी स्थिति के निकट पहुँच जाता है जिससे सर्वोच्च आनन्द की उपलब्धि हाती है। परन्तु यह व्यक्तिगत भिन्नता इतनी स्पष्ट नहीं होती। यह भेद केवल उन्ही स्थितियों मे दिखलाई पडता है जिनमें सौन्दय के निकट पहुँचाने की यह शक्ति बहुत अधिक होती है और जिनम यह शक्ति अत्यधिक होती है वे ही कवि होते हैं।[1]

जेम्स हनरी ले हण्ट (James Henry Leigh Hunt) कविता को पशन मानता है। उसका कथन है—

कविता एक तीव्र वासना है क्योंकि यह गम्भीरतम अनुभूतिया का अन्वेषण करती है तथा उसे उन अनुभूतियो को वहन करने योग्य होना चाहिए।[2]

आगे वह पशन (वासना) की व्याख्या करता हुआ कहता है—यह वासना सत्य की ओर उन्मुख होती है क्योंकि सत्य के बिना अनुभूतियाँ अशुद्ध तथा दोष पूण रहती हैं।[3]

यह सौन्दर्यानुगत तीव्र वासना है क्योंकि इसका काय आनन्दमूलक उदात्ती

---

1 Poetry may be defined as the expression of imagination every *man in the infancy* of art observes an order which approximates more or less closely to that from which the highest delight results but the diversity is not sufficiently marked except in those in stances where the predominance of the faculty of approximation to the beautiful is very great Those in whom it exists in excess are poets

—A Defence of Poetry

2 Poetry is a passion be ause it seeks the deepest impressions and because it must under go in order go convey them

3 It is a passion for truth be ause without truth the expression would be false or defective

करण तथा विशदीकरण है और इसलिए भी कि आनन्दानुभूति का प्रियतम स्वरूप ही सौन्दर्य है।[1]

यह शक्ति की ओर जाने वाली तीव्र वासना है, क्योंकि शक्ति ही वह विजय शील प्रभाव है जिसकी कवि स्वतः इच्छा करता है अथवा यह कवि के द्वारा पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव है।[2]

जिन वस्तुओं अथवा प्रतिबिम्बों से इसका सम्बन्ध रहता है उनकी कल्पना की सहायता से यह 'कविता' धारण करती है और उदाहरणों के द्वारा व्यक्त करती है। इस व्यंजना के लिए यह (कविता) अन्य प्रतिबिम्बों को भी स्वीकार करती है जिससे मूल वस्तुओं अथवा प्रतिबिम्बों पर अधिक प्रभाव पड़ सकता है।[3]

ऊपर के इन विचारों के आधार पर काव्य या साहित्य के मूल उपादान इस प्रकार माने जा सकते हैं—

१—जागतिक वस्तुएँ
२—तत्सबन्धी तीव्र राग या वासना
३—वासना से उत्पन्न जागतिक वस्तुओं का मानसिक प्रतिबिम्ब।
४—इस प्रतिबिम्ब का शुद्ध और सत्य होना।
५—इस प्रतिबिम्ब मे आनन्दप्रदायिनी शक्ति की बहुलता तथा तज्जनित शक्ति सम्पन्नता।

हण्ट महोदय की दृष्टि में काव्य के मौलिक उपादान कवि मे अन्तर्निहित नही होते। बाह्य उत्तेजकों द्वारा एक रागमयी तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है और उस रागमयी तीव्र इच्छा के द्वारा कवि हृदय बिम्ब-ग्रहण करता है। यह बिम्बग्रहण जितना ही शुद्ध और सत्य होता है उतना ही कवि हृदय उसको व्यक्त करने में अधिक समर्थ होता है। इस व्यंजना में कवि की कल्पना उसकी सहायिका होती है। हेनरी ले हण्ट ने अपनी विवेचना मे उन सभी बाह्य उपादानों का सग्रह कर दिया है जिससे सत्काव्य की उत्पत्ति होती है। परन्तु वह उस प्रतिभा की ओर सकेत नही करता है जो कवि हृदय के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। इस प्रतिभा के अभाव मे तीव्रतम उत्तेजकों के द्वारा प्राप्त अनुभूतियाँ भी लौकिक होकर रह जाती हैं और उनसे चरम

1 It is a passion for beauty because its office is to exalt and refine by means of pleasure and because beauty is nothing but the loveliest form of pleasure

2 It is a passion for power because power is its pression or trimphant whether over the poet as desired by himself or over the reader as affected by the po t

3 It embodies and illustrates its impress on by imagination or images of the objects of which it treats and other images brought in to throw light on those objects

आनन्द की उपलब्धि नहीं हो पाती। कल्पना शुद्ध प्रातिभ व्यापार नहीं है, वरन बाल्यावस्था से साथ चलने वाली सहज मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति को सतुलित अवस्था में लाने वाली भाव प्रवण प्रतिभा के बिना सत्काव्य अथवा सत्साहित्य का जन्म नहीं होता। संभवतः इन्हें कल्पना में ही इस प्रतिभा को अन्तर्भुक्त मानते हैं। प्राय सभी पश्चिमी दार्शनिकों ने काव्य का फल आनन्द (Pleasure) माना है। सम्भवत 'प्लेजर' शब्द का प्रयोग भारतीय रस के समान ही है, क्योंकि काव्य-जनित सुख वस्तुत लौकिक सुख नहीं है। पश्चिम के विद्वानों ने इस आनन्द की भावना को इतना आगे बढ़ाया कि वहाँ एक ऐसा सम्प्रदाय ही खड़ा हो गया जिसने आनन्द को रस की उच्च भूमि से गिरा कर कला की कलाबाजी में मिला दिया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक फ्रांस के विद्वान थे जिन्होंने कला को केवल कला के लिए मान लिया और लोक से इसका सम्बन्ध छुड़ा कर उसे केवल खिलौना बना दिया। बाडलेयर कहता है– Postry has no end beyond itself अर्थात् काव्य का स्वभिन्न कोई भी प्रयोजन नहीं है। आस्कर वाइल्ड (Oscar wilde) इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है— काव्य सदाचार अथवा दुराचार की प्रतिपादिका कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ है वह इतना ही कि कोई पुस्तक अच्छे ढंग से लिखी गई है अथवा बुरे ढंग से। कलाकार में सहानुभूति की भावना अक्षम्य है। सम्पूर्ण कला पूर्णतया अनुपयोगी है।[1]

इस प्रकार सुन्दरता की वेदी पर इन कलावादियों ने सदाचार का बलिदान किया और सदाचार की निर्णायिका विवेक बुद्धि का बहुत समय तक तिरस्कार किया। परन्तु अन्तत ये कलावादी भी इस बुद्धि की महत्ता को सम्पूर्णत अस्वीकार न कर सके। इन्हीं में से कुछ ऐसे व्यक्ति निकल आये जो कला को महत्व देते हुए भी बुद्धि का साहचर्य स्वीकार करने पर बाध्य हुए। प्रसिद्ध कलावादी फ्लावेयर को कहना पड़ा— हृदय और बुद्धि अभिन्न हैं। जो व्यक्ति इनमें विभाजक रेखा खींचते हैं उनके पास दो में से कोई भी वस्तु नहीं है।[2]

पेटर कलावादियों का प्रमुख आचार्य था। 'कला कला के लिए' है इस सिद्धान्त के अनुयायी पेटर को अपना गुरु मानते हैं। वह भी शब्द की प्रभावशालिनी शक्ति स्वीकार करता है और मानता है कि शब्द का उपयोग सहानुभूति सहयोग और मानवता की सेवा के लिए होना चाहिए। इस विषय में वस्तु स्थिति तो यह है कि यदि कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन है तो वह कला निश्चय ही एक मादक पदार्थ है। एकान्त सौंदर्य भावना बौद्धिक जगत के लिए कभी भी उपादेय नहीं सिद्ध हो

1 There is no such book as moral or immoral book Books are well written or badly written that is all An ethical sympatl y in an artist is an unpardonable mannerism All art is quite useless

2 The heart is inseparable from intelligence Those who have drawn a line between the two possessed neither

सकती। हमारे इस कथन का यह अर्थ नहीं कि काव्य अथवा साहित्य जनित आनन्द उपेक्षणीय वस्तु है। कोई कृति यदि आनन्द का उत्पादन नहीं करती तो निश्चय ही वह कृतिकार की असफलता का द्योतक है। कृति का आनन्द से युक्त होना उसका एक स्वाभाविक गुण है। निश्चय ही यह आनन्द अलौकिक, अकाल्पनिक और जागतिक चेतना से नितान्त ऊपर होता है। साहित्यकार शाश्वत, असीम और एकत्व का सहभागी होता है। उसकी भावना में समय, स्थान और नानात्व का अवकाश नहीं होता। उसकी अनुभूतियों में स्व-पर भेद शेष नहीं रहता। सात्विक अनुभूतियों की पवित्र भूमिका में साहित्य का सृजन होता है। इस प्रसंग में विद्वद्वर डा० मुंशीराम शर्मा के निम्नांकित विचार द्रष्टव्य हैं–

वाणी का स्रोत आत्मा में है। वाग्देवी आत्मा की शक्ति है जो अपने स्रोत में अनिर्वचनीय अनभूत और अनिर्देश्य है। जैसे आत्मा बुद्धि से परे है उसी प्रकार उसकी शक्ति भी। शक्ति और आत्मा का यह सम्मिलिष्ट रूप वेद में सोम शब्द से अभिहित किया गया है। सोम का अर्थ है उमा के सहित। उमा ओऽम के गर्भ में निहित है। 'उमा और ॐ दोनों को शक्ति और शिव के नाम से निर्वचन किया जा सकता है। तान्त्रिकों ने शिव शब्द के अन्तर्गत इ को शक्ति की संज्ञा दी है और लिखा है कि 'इ' से संयुक्त होकर ही शिव को शिवत्व प्राप्त हुआ है। यदि शिव में से 'इ' रूपी शक्ति को निकाल लें तो वे शवमात्र रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में आत्मा का अपनापन उसकी शक्ति में है। ॐ' का अव्ययीभाव उमा के कारण है। इस उमा से संयुक्त 'सोम' ही 'ओऽम' है। ऋग्वेद के सोम सम्बन्धी सूक्तों में उसका एक विशेषण पवमान भी है। पवमान स्वयं पवित्र है और दूसरों को भी पवित्र करने वाला है। आत्मा की शक्ति वाग्देवी भी पावमानी कही गई है। अतः साहित्य का स्वरूप एकान्त पवित्र है। इसका उत्पादक पवित्र है और इसके आराधक अध्येता भी परिणामतः पवित्र होने चाहिए।[1]

ऊपर के इस कथन में विद्वान आलोचक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्य का उद्देश्य जीवन को पवित्र बनाना है और जैसा कि पहले विवेचन हो चुका है साहित्य की सार्थकता उसके द्वारा जीवन के उन्नयन में ही है।

साहित्य सृजन—एक साधना

साहित्य का सृजन एक विशिष्ट उत्सव विधान है। हमारी युग-युग की साधना जब सृजन का उत्सव मनाती है तभी कला या साहित्य का जन्म होता है। चेतना के रथ पर गमन करने वाला मानव हृदय अपनी यात्रा में अनन्तकाल से गतिमान है उसकी इस यात्रा का अंतिम लक्ष्य क्या है यह तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक

१ सारस्वत (निबंध-संग्रह) पृष्ठ १।

मानवना की विकाम क्रिया का अतिम पग निर्धारित न किया जाय। साहित्यकार अपनी यात्रा की अनभूतियों का दर्शन साकार रूप मे उस समय करता है जब उसके जीवन का सत्य भाषा और लिपि के रूप म व्यक्त होता है। उसकी बोध वृत्ति उस उसके यात्रा पथ का अनुभव-दान देती है और यह अनुभव ही उसके अन्तःकरण को परितोष प्रदान करने के लिए अभिव्यक्ति के रूप का वरण करता है। मानव हृदय म आत्म और अनात्म भावों की व्याप्ति है। ये दोनो ही भाव उसके जीवन म एक सघर्ष विशेष की सृष्टि करते हैं। सघर्ष का परिणाम होता है अशान्ति-आकुलता। यह सघर्ष किसी क्षण विशेष अथवा काल विशेष का नहीं है। अपितु चेतना के प्रारंभिक क्षणो म सघर्ष की सृष्टि हो जाती है। इस सघर्ष-जनित आकुलता के शमनार्थ मानव आत्म साक्षात्कार करना चाहता है। आत्म साक्षात्कार की पुण्य वेला म वह जगत की विभिन्न परिस्थितियो को देखता है अपने अतीत और वर्तमान की विवेचना करता है विधि निषेध नियमो द्वारा शासित क्रिया कलापो की छानबीन करता है। इस प्रकार वह एक ओर अपने को देखता है और दूसरी ओर गतिमान ससार को। ससार की परिवर्तनशीलता एव आकस्मिक समस्याएं उसके मानस-पटल पर एक प्रश्नसूचक चिह्न अकित करती हैं और वह उनके उत्तर की खोज म लीन हो जाता है। उसकी यह तन्मयता चिन्तन पथ की गतिशीलता ही स्वत उत्तर बन कर उसके समक्ष उपस्थित होती है। इस समय उसका हृदय एक विचित्र कुतूहल से भर जाता है और वह भाव विभोर होकर अगुलियो स वाणी स बोल उठता है। उसके ये बोल ही कला का रूप धारण करते है।

कलाकार की यह क्रिया साधना सापेक्ष्य होती है। इसीलिए वह कलाकृति द्वारा मानो अपनी साधना का उत्सव मनाता है। उसकी यह साधना युग की पग डडियो पर चलती हुई आती है। इसीलिए कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि उसकी साधना का यह प्रतिफल नितात मौलिक है। इतना अवश्य है कि कलाकार की कला उसके अतीत का वरदान है जिसे वह वर्तमान के पात्र म रख कर उसे भविष्य के लिए सुरक्षित करने की कामना को सजोता रहता है।

साहित्य की गतिशीलता

प्रायः लोग कला या साहित्य को परिभाषा की सीमा म बाधना चाहते हैं। हमने भी पूर्व के पृष्ठो म अनेकानेक विद्वानो की कला साहित्य सबधिनी परिभाषाओं का उल्लेख किया है किन्तु सच तो यह है कि साहित्य की कोई निश्चित और शाश्वत परिभाषा नहीं की जा सकती। अभी हम कह आए है कि युग पथ पर चलने वाली साधना ही साहित्य का रूप धारण करती है। अत जब तक युग का मानव चेतना का सन्योग प्राप्त होता रहेगा तब तक इस गतिशील ससार म साहित्य कला के भी अनेकानेक रूप उपस्थित होते रहेंगे। अनुभव द्वारा इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्य म जीवन का प्रतिबिम्ब होता है उसम साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति

होती ह और वह उस राग के तार को भकृत करना चाहता है जो प्रत्येक मानव हृदय म विद्यमान है। मानव मानव का रागात्मक सबध ही समाज की सष्टि करता है। इसीलिए परस्पर उन भावो का व्यापार चलता है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य म होती है।

साहित्य की स्वतन्त्र-सत्ता

युग की चट्टान पर खडा होकर साहित्यकार जब अपने चारो ओर देखता हैं तब एक ओर उसका करुण एव सुखद अतीत इतिहास के रूप म उसे सन्देश देता है दूसरी ओर उसकी धार्मिकता नैतिकता एव उसकी वयक्तिकता अर्थात आदर्श और यथार्थ के चित्र उसके मन म आकर्षण एव विकर्षण के नाना रूपो की सष्टि करते हैं। उसका यह समस्त वातावरण उसे नवीन स्फूर्ति एव प्रेरणा प्रदान करता ह जिसके परिणामस्वरूप वह स्वतन्त्र चेता बन कर अपने स्वतन्त्रपथ का निर्माण करता है। इस प्रकार साहित्यकार अपने अतीत और वतमान दोनो का ही उपासक है। वह युग के साथ है और युग से अलग भी। स्वतन्त्र उदभावक साहित्यकार प्राचीनता के प्रति न तो विमूढ आग्रह ही रखता है और न नवीनता के प्रति अविवेकपूर्ण उत्साह ही। उसका कृतित्व निश्चय ही भावपूर्ण होता है। अपनी सृजनात्मक शक्ति पर पूर्ण आस्था होने के कारण वह भविष्य का द्रष्टा बन बठता है। इस प्रकार वह स्वदेश के भाग्य को सुहाग की लाली से अनुरजित करता रहता है। भारती के अमर रत्न कबीर सूर तुलसी आदि ऐसे ही साहित्यकार थे जिन्होने अतीत से सपृक्त रह कर ही वतमान म भविष्य का शृगार किया था। उनकी शृगार भावना—कृति की सब म बडी विशेषता यह है कि देश और काल की सीमाओ को बध कर भी उसकी सुषमा किरणें यत्र तत्र सवत्र बिखर रही हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गई पर उनके चित्र आज तक धूमिल नही हुए। इसका कारण क्या है ? स्पष्ट है कि य साहित्यकार वग गत भावनाओ के चक्कर म कभी भी नही पडे। इनकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति जन जन के मानस की अभिव्यक्ति थी। इसीलिये आज वे जन जन के हृदय म विद्यमान है। इसी रूप म कला अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुये सोद्देश्य भी होती है।

कला या साहित्य की वास्तविक शक्ति है सूझ या कल्पना। जिस कवि का दृश्य जगत जितना ही कल्पना प्रवण होगा जिसकी चिन्तन रश्मियाँ गुह्यातिगुह्य प्रदेश म जितनी ही दूर तक पहुच कर तत्व का दर्शन कर सकेंगी वह अपनी अभिव्यक्ति की सजीवता के आधार से उतना ही महान होगा। इसी रूप म साहित्य और जीवन का सम्बन्ध भी है। अन्यथा न तो साहित्यकार का अभिनय करने वाले साहित्यकारो का अभाव है और न अभिनयात्मक भावो का ही।

सत साहित्य की सामान्य विशेषताएँ

सतों का जीवन एक विशिष्ट प्रकार का जीवन था। व उस अलौकिक ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए लोक-जीवन म दूर व न दूर हट कर किसी पवत की कन्दरा

या किसी पावन पयस्विनी के तट पर बैठ कर साधना करने में अधिक विश्वास नहीं करते थे। वे साधारण गृहस्थों के बीच रह कर ही अपनी दैनिक्चर्या का सहज रूप में पालन करते हुए भगवत्भजन में लीन रहा करते थे। कबीर जुलाहे थे जीवन भर जुलाहे का काम करते रहे सधना कसाई थे उनकी जीविका का साधन भी मांस बेचना ही था। इसी प्रकार ये समस्त संत अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का पूर्ण रूपेण पालन करते हुए ब्रह्मोपासना भी करते थे। जीवन के प्रति न तो उनमें कभी पलायनवादी प्रवृत्ति का उदय हुआ और न उसके प्रति इतना व्यामोह ही हुआ कि वे उसी सांसारिक जीवन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मान कर उसी तक सीमित रहें। उनका जीवन भौतिकता एवं आध्यात्मिकता इन दोनों का समन्वय था। साहित्य जीवन की अनुकृति होने के कारण वह भी इन संतों की इसी समन्वयवादी भावना से पूर्ण है। यद्यपि प्रत्यक्षतः संत कवि निर्गुण के उपासक प्रतीत होते हैं और सगुण उपासकों द्वारा होने वाली मूर्तिपूजा का सर्वत्र उन्होंने खंडन किया है, पर यह सब होते हुए भी वे ब्रह्म के सगुण रूप को नितान्त विस्मृत नहीं कर सके हैं।

'जाके नाभि पदम सुउदति ब्रह्मा चरन गंग तरंग रे'[1] 'बहुत दिनन के बिछुरे माधौ मन नहिं बांधै धीर, देह छतां तुम्ह मिल्हु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ॥'[2] आदि कितनी ही ऐसी पंक्तियां हैं जो इस तथ्य को प्रमाणित करती है।

धार्मिक दृष्टि से संतों का साहित्य अत्यन्त उदार एवं समन्वयवादी है। उनमें धार्मिक सहिष्णुता की मात्रा भी यथेष्ट रूप में विद्यमान है। विशुद्ध ज्ञान मार्ग का उपदेश देते हुए भी कबीर 'नारदी[3] भक्ति का उपदेश देते है। शाक्तों की रीति-नीति से विरोध मानते[4] हुए भी वे उनके प्रशंसक बन जाते हैं—

ससारी सापत भला कवारी के भाइ।
दुराचारी वैष्णों, बुरा हरिजन तहां न जाइ ॥
—क० ग्रं०, पृ० ६६

स्पष्ट है कि कबीर को किसी सम्प्रदाय विशेष से किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। वे प्रत्येक सम्प्रदाय को उत्तम साधनाओं की ओर अग्रसर होते हुए देखने के अभिलाषी हैं। जहाँ कहीं भी साधना में शथिल्य आडम्बर पाखंड अथवा मिथ्याचार दिखलाई पड़ता है वहीं उनकी साधु आत्मा विचलित हो उठती है। उस संत के उपासक को अनत एवं कदाचार असह्य हो उठता है। फलतः अनीति और अनाचार

१ कबीर ग्रंथावली प० २१८ पद ३९०
२ १९१ ३ ५
३ भगति नारदी मगन सरीरा, इहि बिधि भव तरि कहै कबीरा।
—क० ग्रं०, पद २७८
४ सापित सण का जेवडा भीगा सू कठठाइ।
दोइ आषिर गुरु बाहिरा, बांध्या जमपुर जाइ ॥
—क० ग्रं०, प० ३६

के प्रति सतत विगर्हणा का भाव रखने के कारण उनकी उपस्थिति में उसका शान्त ज्वालामुखी विस्फोट कर उठता है। विरोध की इस तीव्रता म बिना किसी भ्रम विचार के वह अमन की अत्यधिक भर्त्सना करने लगता है। पर उसका यह विरोध विशुद्ध एव सात्विक हैं। कबीर परम्परा के जितने भी साधक हैं उन सब की प्राय यही स्थिति है। अस्तु हम सत साहित्य म एक ओर तो शास्त्रीय मर्यादाओ के प्रति अव हेलना क स्वरूप का दखत है पर दूसरी आर उन समस्त क्रियाओ का प्रतिपादन भी पाते हैं जिनके द्वारा मानव अपनी आचार-व्यवस्था का सम्यक रूप से प्रतिपादन करता हुआ अवम से परम की ओर प्रस्थान कर रहा है।

प्रत्येक सत ने अपनी साखी शब्दी-पदा आदि के माध्यम से आत्मचिन्तन प्रसूत भावा, विचारा एव तथ्यों का प्रतिपादन किया है। सत अपनी आत्मा के स्वर को सुनन के अभ्यस्त हात हैं और व उसी स्वर का दूसर को सुनाना भी चाहत हैं क्योकि उनका विश्वास है कि स्वानुभूति की जिस भूमिका म प्रतिष्ठित होकर उन्होन जो तत्वचिंतन किया है वही मानव मात्र क लिए श्रयस्कर है। इसीलिए सत साहित्य म मानवता के स्वरूप की पूर्ण व्याख्या पाई जाती है। उसी के हित-साधन म सतों क स्वरो का महत्व है।

सत-साहित्य म साधना-परक खण्डन-मडन का स्वरूप भी पाया जाता है। मूर्तिपूजा को लेकर प्राय सभी सतो ने उसका विरोध एव उपहास किया है। अव-तारवाद क प्रति भी सतो की आस्था नही थी। वे कर्मकाड का सत्व विरोध करते रहे। उन्हे जाति-पाति क व ब धन जिनम जकडी जाकर मानवता सिसकियाँ भर रही थी, बडे ही अप्रिय प्रतीत हुए। अस्तु उन सब की निंदा सत-साहित्य का विषय बनी। यही कारण है कि सत-साहित्य का प्रभाव उन जातियो के बीच अधिक रहा है जो दबी, दलित एव पिछडी हुई रही हैं और जिन्ह अन्त्यज की सज्ञा प्रदान की गई है।

इस प्रकार हम दखत हैं कि सत साहित्य अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ उस विकास का, प्रगति का एक सदेश देता हुआ चलता है। सतो की स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति एव निर्भीक अभिव्यक्तियाँ उनक साहित्य को अत्यधिक प्रभावशाली बनान म सक्षम है।

भारतीय मनीषा धर्म का चिंतन मनन करने म ही आत्मपरितोष अनुभव करती रही है। अस्ति और नास्ति का विवेचन, ईश्वर जीव और जगत का चितन ही यहाँ की चिंतनधारा का प्रिय विषय रहा है। आदिकाल स विभिन्न दार्शनिको चिन्तकों ने आत्मा-परमात्मा क सम्बध का विवेचन ही अपन जीवन का एकमात्र मूल मत्र-सा मान लिया था। यही कारण है कि जितने मत-मतान्तर भारत की इस

उवरा भूमि म पनपे उतने प्राय अयत्र नहीं। सत-साहित्य उन्ही विचार-अकुरो म से एक है। सता की अपनी एक स्वतत्र चिन्तन शक्ती होती है। उनकी उदभावना शक्ति म भी एक विलक्षणता एव नवीनता का दर्शन होता है। अपनी युगीन परिस्थितियो के अनुरूप सतो न जो कुछ भी देखा सुना तथा समझा उसे अपने ढग म व्यक्त किया है। उनके शब्द सुनने म बडे अटपटे प्रतीत होते हैं पर है वे डाक्टर अथवा वैद्य की कड़ुवी औषधि के समान ही। उनके अधिकाश कथन स्वानुभूतिपरक होने के कारण प्रत्यक्षत यत्किंचित गर्वोक्तियो से पूर्ण प्रतीत होते है। पर वस्तुत गर्वोक्ति के प्रति सत-साहित्य म आस्था नहीं व्यक्त होती है। खण्डन-मण्डन की स्थिति म जहा कहीं विरोधी मत अथवा सिद्धात का प्रतिवाद किया गया है वहाँ स्वमत अथवा स्व सिद्धान्त के महत्व का अकन करते हुए आत्म विश्वास के आधार पर कुछ ऐसे तथ्यो को कह दिया गया है जो प्रत्यक्षत सत स्वभाव के विपरीत दर्प पूर्ण प्रतीत होते हैं। यथा—

सुर नर थाके मुनि जना जहा न कोई जाय।
मोटे भाग कबीर के, तहा रहे घर छाइ॥

क० ग्र० प० ३१

अथवा

झीनी झीनी बिनी चदरिया
साध ओढी सतन ओढि ओढि क मली कीन्ही चदरिया।
दास कबीरा जतन से ओढी ज्यों की त्या धरि दीन्हीं चदरिया॥

—कबीर ग्रन्थावली

पर ऐसे प्रसगो म प्रभ भक्ति के प्रति उस अटल विश्वास के दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए जिसके कारण वे उस स्थिति के प्राप्त कर लेने की घोषणा करते हैं। यहाँ साधक स्वत अपने लिए नही कहना है। उसकी यह धारणा केवल अपने लिए नही है अपितु सामान्यत उस प्रभ-भक्त के लिए है जो भक्ति के वास्तविक स्वरूप को समझ कर अपने को ब्रह्म म लीन कर चुका है। ऐसे भक्त के लिए सभव और असम्भव क्या। जहाँ राम ते अधिक राम कर दासा है वहाँ सचमुच ऐसी ही स्थिति होगी जिसके प्रति मानव मन लाख लाख स्पृहाओं एव स्पर्धाओ को बिखेर कर आश्चर्यचकित अवस्था में उस महत्व का दर्शन करता है।

सत-साहित्य म अनेकानेक स्थलो म रहस्यानुभूति की उपलब्धि होती है। सत प्रकृत्या तत्व चिन्तक थ। उनका चिन्तन का क्षेत्र बडा व्यापक एव गभीर था। उन्होन आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का परिचय प्राप्त किया था। यह परिचय केवल बौद्धिक विकास के रूप म न होकर साधना की पूर्ण परिपक्वावस्था के रूप मे

था। अत अपनी अनुभूति की गहनता म उन्होने जिन तथ्यो का प्रकटीकरण किया है वे सामान्य धरातल स कही अधिक ऊँचे हैं जिन्हे साधारण मानव समझने म असमर्थ है। जो साधक अपनी आत्मा का जितना ही अधिक विकास कर लेगा वह उन रहस्यानुभूतियो स उतना ही अधिक परिचय भी प्राप्त कर लेगा और सत-साहित्य म प्रयुक्त उलटबासियाँ फिर उसके लिए मानसिक व्यायाम की वस्तु न होकर, हृदय के प्रसादन की वस्तु बनेगी।

कलात्मक कौशल की दृष्टि स सत-साहित्य का परिशीलन करने वाले को प्राय निराश ही होना पडेगा। रचना की काव्यमयता की ओर इन सतो का ध्यान नही था। वे अपनी अनभूतियो का दान मानव-समाज को देना चाहते थ और वह भी केवल इसलिए कि बिना एसा किये उनकी कल्याणकारिणी प्रवृत्ति को परितोष नही होता था। घुणाक्षर न्याय से जहाँ कही काव्यात्मकता आगई वहाँ आ गई, पर साधारणत उनके नीतिपरक वचनो म, विमूढ आत्माओ को सत्य का दर्शन करान म एव विभिन्न मत मतान्तरो क आवरणो से आवृत्त सत्य को निरावरण करने म कला की कामलता की ओर ध्यान कहाँ ? इसका यह अर्थ नही है कि उनके साहित्य म काव्यमयता है ही नही। सत-साहित्य म एस कितने ही मार्मिक स्थल है जहाँ सत हृदय की स्निग्धता कामलता एव भावुकता ऐसे रूप व्यापारो की सृष्टि कर सकी है जो अपन प्रकृत रूप म ही बड प्रभावोत्पादक है। सतो की बानियो एव शब्दो म कही कही लक्षणा और व्यजना का भी प्रयोग हुआ है। उनकी वाणी ध्वनि के प्रभाव को व्यक्त करती हुई काव्य की आत्मा के स्वरूप का उदघाटन करने म सक्षम है। पर यह सब है अपन सहज रूप म ही। इस ओर उनका ध्यान भी नही है। इसका एक कारण भी ह और वह यह कि ये सत शास्त्रीय परम्परा क सत न थे। किसी पाठशाला म बठ कर न तो उन्होने व्याकरण क सूत्रो को ही रटा था, और न साहित्य की विभिन्न विधाओ स परिचय ही प्राप्त किया था। इतस्तत भ्रमण करते हुए साधुओ की सगति म बठ-बठ कर श्रुत ज्ञान के रूप म इन्हे जो मिल गया उसे ले लिया और अधिकाशत अपनी चिन्तना पर ही अवलम्बित रह। अस्तु जस तैसे अपन विचारो को सामान्य जन जीवन तक पहुचा देना इनका उद्देश्य रहा। इसीलिए इनकी दृष्टि भाषा सौष्ठव की अपेक्षा भाव सौष्ठव की ओर अधिक रही। इन्हे सभी सम्प्रदायो एव प्राय सभी प्रान्तो क लोगों के बीच म बठने का अवसर मिलता था। अस्तु सभी स्थानो की प्रचलित भाषाओ का उन पर प्रभाव पडना भी स्वाभाविक था। यही कारण है कि इनकी रचनाओं म राजस्थानी पजाबी अवधी, व्रज, भोजपुरी खडी बोली गुजराती मराठी अरबी फारसी आदि भाषाओ के रूप पाए जाते है। कही कही सस्कृत क शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इसीलिए विद्वानो ने सतो की भाषा को खिचडी भाषा कहा है। इनकी भाषा को सधुक्कडी भाषा भी कहा जाता है।

इसमे सन्देह नही कि सतों की भाषा म अपने भाव को यजित करने की पूण क्षमता है। विभिन्न प्रातीय श दो एव अपभ्र श रूपो क यवहार के कारण सत-साहित्य की भाषा म यत्र-तत्र दुरूहता भी प्राप्त होती है। पर सामा यत सत साहित्य की भाषा म एक विचित्र आजव, एक अदभुत प्रभावात्मकता एव स्पृहणीय आकपण प्रतीत होता है। उसकी अपनी निराली धज है। आगे के अध्यायो मे हम सत साहित्य की भाषा का ही अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

३

भाषा तथा हिन्दी भाषा का विकास

अ—भाषा

प्रकृति का गुण है स्फुरण। इस स्फुरण या अंकुरण में प्रकृति के कई अंग सहायक बनते हैं। मानव हृदय में भी स्फुरण की यह शक्ति एवं क्रिया विद्यमान है। उसकी सहज चेतना अपने दृश्यमान जगत में एकाकार हो कर जिस रूप एवं भाव का संस्पर्श प्राप्त करती है वही उसके हृदय में बीज रूप बन कर विभिन्न कलाओं अथवा भाषागत रूपों में अंकुरित होती है। स्पष्ट है कि मानव अपनी भाव निधि दूसरों के समक्ष रखना चाहता है तथा दूसरों की भाव निधि को स्वयं देखना भी चाहता है। आदान प्रदान अथवा विनिमय की यह वृत्ति मानव की सहज वृत्ति है।

भावों और विचारों के विनिमय का सहज सुलभ साधन है भाषा।[1] जागतिक क्रिया-कलापों में भी हम विनिमय के व्यापार को देखते हैं। विनिमय ही सामाजिक शृंखला को सुस्थिर एवं सुदृढ़ करता है। यह दृढ़ता और स्थिरता कदापि संभव न हो सकती यदि भाषा न होती। सामाजिकता की संस्थापना के लिए भाषा अत्यन्त आवश्यक है। लोक जीवन की कामनाओं आशाओं इच्छाओं और स्वप्नों को संवहन करने वाली भाषा ही तो है। भाषा न केवल धात्री के रूप में किसी भाव विशेष का पालन करती है अपितु वह नये-नये भावों एवं विचारों की जन्मदात्री भी बनती है। हम परस्पर भावों के आदान प्रदान द्वारा न केवल एक-दूसरे की आवश्यकताओं को समझते हैं, अपितु उनके संघर्ष से उत्पन्न एक तीसरी वस्तु को प्राप्त भी करते हैं। इस प्रकार भाषागत विचार विनिमय नूतनातिनूतन विचारों की सृष्टि करता रहता है।

---

1 In its broadest and most emotional sense Language may be said to be any means of expressing emotional or mental concept by any living being or beings whatsoever and of communicating them to or receiving them from other living beings

—Louis H Gray—Foundation of language P 13

जिस समय हम वार्तालाप रत होते हैं अथवा किसी विचार पर मनन करते हैं उस समय हमारे मानसिक जगत मे भी भाषण की क्रिया काय करती रहती है। भाषा धनानिका ने इस भाषा का मनोवैज्ञानिक अथवा मन क्षत्रीय रूप कहा है। उच्चरित वाणी का रूप भौतिक है। मन म निहित वाणी दिखाई नहा देती परन्तु वह अनुभव म अवश्य आती है। वहाँ भी शब्द और उनके अथ दोना विद्यमान रहते है। एक रूप के लिए जो शब्द मन म सचरित होता है वह दूसरे रूप वाले शब्द से पृथक रहता है। पार्थक्य के साथ वहाँ तारतम्य भी बना रहता है। भाषा वहाँ स्वरित नही परन्तु स्पन्दित और क्रियाशील अवश्य है। बाह्य भाषा उसी मानसिक क्षत्र की स्पदित वाणी का मुखरित रूप है।[1]

मानव अपनी चेतना के रथ पर अनादिकाल से गतिमान है। उसकी यात्रा की परिसमाप्ति कहाँ और कसे होगी यह कोई नही कह सकता। चेतन मानव की सह जात भाषा भी उसी के समान निरन्तर गतिशीला है। जिस प्रकार जलवायु तथा अन्य भौगोलिक प्रभाव एव सभ्यता के नाना रूप मानव की निर्माण क्रिया म अपना महत्व पूण योग दते रहते हैं उसी प्रकार भाषा की निर्मिति पर भी इन सबका प्रभाव कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रूप म पडता रहता है। भाषा का एक विशेष धम है उसका व्यक्ति सापेक्ष होना। यह व्यक्ति सापेक्षता कभी भौगोलिक और कभी सास्कृतिक कारणो से समाज सापेक्ष भी बन जाती है। अग्रज भौगोलिक कारणो स त नहीं कह पाते। इसलिए उनके शब्दा म ट का प्रयोग होता है। जिस देश का सास्कृतिक विकास जितना समुन्नत होगा उस देश की भाषा और साहित्य भी उतने ही समुन्नत होंगे। व्यक्ति सापेक्षता म शरीरावयवों का सगठन शब्दा के उच्चारण म अन्तर उत्पन्न करता रहता है। सिन्ध को हिन्द और पसा को पैसा सत्यनारायण को फत्यनारायण कहने वाले प्राणी प्राय देख जाते हैं।

भाषा के व्यावहारिक रूप पर शिक्षा का भी प्रभाव पडता है। जिस शब्द का उच्चारण एक विद्वान करता है उसी शब्द का उच्चारण उसी रूप म एक ग्रामीण नहीं कर पाता। केवल शब्दों के उच्चारण की ही बात नहीं है उनके नामकरण की भी बात है। एक ही वस्तु एक ही रीति रिवाज के भिन्न भिन्न स्थानो मे भिन्न भिन्न नाम पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश का निवासी चारपाई या खटिया शब्द का प्रयोग करता है लेकिन पजाब का रहने वाला मजा शब्द का प्रयोग करता है जब कि पतग उडाने वाले पतग की एक डोर विशेष को भी मजा कहते हैं। यज्ञोपवीत एव विवाह के समय कहीं कही यह प्रथा है कि भाई अपनी विवाहिता बहिन को वस्त्र आदि प्रदान करता है। इस पद्धति को कही पर भात भजना और कहीं पर चीकट पहिनाना कहा जाता है।

1 Language is an article of export
M M Lewis—Language in society Page 46

साधारणतः भाषा के दो रूप होते हैं, एक उच्चरित रूप और दूसरा लिखित रूप। भाषा का उच्चरित रूप हमारे दैनिक जीवन से विशेषतः सम्बन्धित है। निरन्तर बोलचाल में, बाजारों में, घर के कामकाज में, लेन देन में जिन शब्दों एवं वाक्यों का हम प्रयोग करते हैं वह सब भाषा का उच्चरित रूप है, पर दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही हमारे जीवन का आदि और अन्त नहीं है। हम वर्तमान में रह कर अपने अतीत को देखना चाहते हैं और जानना चाहते हैं कि हमारी यात्रा कहाँ से प्रारम्भ हुई थी, हमने अतल-तल की कितनी गहराइयों को नापा, कितनी उत्तुंग शैल मालाओं का अतिक्रमण किया, किन बीहड़ वनों को पार किया, किन उपत्यकाओं में विश्राम किया, ये विस्तृत राजमार्ग और ये सुरम्य प्रदेश कब और कैसे बने, किसने हमारी निधि को छीना और किसने अपनी निधि का दान देकर हमें निहाल कर दिया। हम अपने जीवन के अश्रु कणों की कहानी और हास की परम स्निग्ध-ज्योत्स्ना को अपने तक ही सीमित रखना नहीं चाहते। हमारी इच्छा होती है कि कोई हमारे आँसुओं को पोछे, हमारी आहों को दुलराये और हमारी हँसी में अपने हृदय के उल्लास को घोल दे। यही नहीं, हम अपने समस्त अनुभवों का दान, अपने समस्त ज्ञान की मंजूषा एवं अपनी समस्त कामनाओं की कलना अपनी सन्तति को दे जाना चाहते हैं। हमारी साध होती है कि हमारी सन्तति भविष्य का अभिनव शृंगार करे। इस सब की पूर्ति भाषा के माध्यम से ही सम्भव है। निश्चय ही यह माध्यम भाषा का लिखित रूप होगा। हमारी समस्त सांस्कृतिक चेतना, हमारी सभ्यता का समस्त रूप, दूसरे शब्दों में हमारी यात्रा की जय विजय की कहानी भाषा के लिखित रूप में ही सुरक्षित रह सकती है। इस प्रकार विभिन्न जागतिक रूपों का बोध भाषा के व्यापार में ही सम्भव है।[1]

भाषा की उत्पत्ति

भाषा एक अर्थ पूर्ण नाद है, समाज में समझी जाने वाली सार्थक ध्वनियों का समूह है। हम आँख, हाथ आदि के संकेतों द्वारा भी भावों का ग्रहण कर सकते हैं, पर सार्थक नाद के द्वारा जो भाव संकेत ग्रहण किये जाते हैं वे विशेष स्पष्ट और पुष्ट होते हैं। धार्मिक प्रवृत्ति के प्राणी नाद के रूप में किसी विशिष्ट ईश्वरीय प्रेरणा को अनुभव करते हैं, किन्तु बुद्धिवादी इस क्रिया में प्राणी की उस सहज शक्ति को ध्वनित होता हुआ देखते हैं जिसका कुछ भाग मनुष्येतर प्राणियों को भी उपलब्ध हुआ है। मनोविज्ञान विशारद भाषा की उत्पत्ति में प्राणी की उस मानसिक चेष्टा को देखते हैं जो अपनी अनुभूतियों एवं आवश्यकताओं के प्रकटीकरण के लिए उन्हें विकल कर देती है। भाषा वैज्ञानिक इसमें शारीरिक चेष्टाओं का सहारा भी समर्थन है। नाद

1 With Sufficient caution the properties of language may help us to understand the structure of the world

William J Entwistle—Aspect of language Page 5

के स्वरूप का मूल्यांकन करते समय मत मतान्तरों की विभिन्नता अत्यन्त प्रबल और बहुमुखी हो उठती है। प्रस्तुत प्रसग म हम उन मत मतान्तरो के सबध म विशेष ऊहापोह नही करनी है। यहाँ पर ता उनका केवल परिचयात्मक विवरण ही पर्याप्त होगा।

मनुष्य सष्टि की एक अनुपम कृति है। वि व के सभी आकार प्रकारा म मनुष्य आकृति की दष्टि से भी एक विशिष्टता रखता है। परन्तु उसकी वास्तविक विशिष्टता उसके ज्ञान म उसकी रागमयी प्रवृत्तियो म एव उसके विवेक म है। साधारणतया राग और ज्ञान सभी प्राणिया म हाना है। छाटे स छोटा जीव भी अपने बुद्धि-बल से विभिन्न कार्यों म सलग्न रहता है। शक्कर क कणो की ओर दौडती हुई चीटियाँ क्या ज्ञान शून्य कही जा सकती है ? वे अपने बिलो म अन्न कणो का सग्रह करती हैं जो उनकी सज्ञानता का परिचायक है। इसी प्रकार क्या पक्षी के घोसले म उसकी बुद्धि और उसके ज्ञान का समावेश है। घर के आँगन म फुदकती हुई चिडियो के जोड जब कमरो क झरोखो, रोशनदानो मे एक एक तिनका लाकर बडी सावधानी स उन्हे सजो कर घासले का निर्माण करते हैं और उस घोसले म पलने वाले पक्षि शिशु के मुख म जब अन्न के कणो का व ना लाकर डालत हैं तब उनकी बौद्धिक कुशलता एव राग की उस परमपूत मजुल भावना का परिचय प्राप्त होता है जिसके कारण सष्टि सष्टि बनी है। ममता की मूर्ति ही तो इस विस्तत प्रसार का एकमात्र सम्बल है। गोधूलि वला म गोचारण से आन वाली गायें जब रभाती हुई अपने बछडा के पास आ आकर उन्हे चाटन लगती हैं तब प्र न हाता है कि नीड बनाने का ज्ञान सग्रह करने की वत्ति और ममता के य रूप—इन अबोध प्राणियो को कौन सिखा गया ? न तो इनकी कोई पाठशाला है और न ये बचारे कुछ कह ही सकते हैं। इसे प्रकृति या प्रभु की कृपा ही मानना चाहिए कि बिना किसी शिक्षक के य सब कुछ सीख जात हैं। इसक लिए इन्हे किसी निमित्त को खाजने की आवश्यकता नही होती। पर मनुष्य का ज्ञान सहज होने के साथ नमित्तिक भी है। गाय का बछडा जन्म लेते ही कूदने लगता है इसके बाद परतु मानव का बच्चा पहले घिसलना सीखता है फिर बठना। घुटनो के बल सरकना और धीरे धीरे उगलियो के सहारे खड होकर चलना भी वह सीख लता है। प्रत्यक्षत उसकी ये समस्त क्रियायें क्रमिक विकास के रूप को व्यक्त करती हैं।

आस्तिको के मतानुसार जिस मनुष्य जाति को ईश्वर प्रदत्त ज्ञान प्राप्त हुआ है उसकी भाषा भी ईश्वरीय प्ररणा स प्राप्त हुई है क्योकि ज्ञान बिना भाषा के ठहर हा नहीं सकता अर्थात वश परम्परा स चल ही नही सकता। ज्ञान और भाषा का सम्बन्ध जोडिय भाई और बहन की भाँति है।[1] भाषा मानव जाति की विशेष निधि

१ रघुनदन शर्मा—वदिक सम्पत्ति, पष्ठ २६१

के रूप में है। विश्व में मानव का ऐसा कोई वर्ग नहीं है ऐसी कोई जाति नहीं है, जहाँ पर भाषा का प्रयोग न होता हो।

आदि मनुष्य ज्ञान और भाषा के सहित ही उत्पन्न हुआ है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए कहा जाता है कि जिस प्रकार हिपनोटिज्म करने वाला अपने सबजेक्ट के मुह से केवल मानसिक प्रेरणा से ऐसी ऐसी भाषाओं के शब्द बुलवा सकता है जिनको सबजेक्ट ने पहिले कभी नहीं सुना उसी प्रकार सब व्यापक और सब शक्तिमान परमात्मा ने आदि में मूल पुरुषों के हृदयों में ज्ञान और भाषा का प्रकाश किया। आदि सृष्टि में पैदा होने वाले ईश्वरपुत्र आर्य पूर्ण ज्ञानी आत्मा होते हैं। उनको अपने व्यापकत्व से परमात्मा पूर्ण प्राप्त ज्ञान और भाषा की याद दिला देता है, इसीलिए उनमें ज्ञान और भाषा का प्रकाश हो जाता है।'[1] इस तथ्य के आधार पर यह मानना आवश्यक हो जाता है कि समस्त भाषा शाखाओं का एक ही आदि मूल था। साइंस आफ द लैंग्वेज के लेखक मैक्समूलर महोदय इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं।[2] भाषा-उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त मत के अनुसार भाषा को दैवी सम्पदा कहा गया है। पाश्चात्य विचारकों के मतों से भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है।[3] भारतीय मनीषा ने भी शब्द ब्रह्म के महत्व के सम्बन्ध में विशेष विचार किया है।

चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मतों की सृष्टि की है।[4] ये मत धातु सिद्धान्त, अनुकरण मूलकतावाद मनोभावाभिव्यंजकतावाद अनुरणनमूलकतावाद श्रमपरिहरणमूलकतावाद तथा विकासवाद के समन्वित

---

१ रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ २६८

2 What are called families of languages are only dialects of an earlier speeches (Chinas place in philosophy)

3 If then God is the author of human language he must have had his own language as well And we find, in fact that the word God memra plays a tremendous part in the Bible "And God said Let there be light and there was light —By the word of the Lord were the heavens made and all the host of them by the breath of his mouth (33rd Psalm 6) Not only did this word God create the whole world it also cares for the world and makes it fruitful

—The spirit of language in civilization P 36

4 The Greek generalization about language were not improved upon until the eighteenth century when scholars ceased to view language as a direct gift of God and put forth various theories as to its origin Language was an invention of ancient heroes or

सिद्धान्त के रूप में भाषा विज्ञान के क्षेत्र में प्रख्यात हैं। भाषा की उत्पत्ति का मूल कारण कुछ भी रहा हो पर कदाचित इस सम्बन्ध में सभी का मतैक्य होगा कि भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा ध्वन्यात्मक प्रतीक के रूप में उपस्थित हुई और इसके रूपों में कालक्रमानुसार विभिन्न देश कालों में परिवर्तन भी होता गया। अस्तु भाषा का कोई एक स्थिर रूप नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व सीमाबद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार भाषा भी किन्हीं विशिष्ट सीमाओं में आबद्ध नहीं हो सकती। वह व्यक्ति की भाँति ही पूर्ण विराट की ओर सदैव उन्मुख बनी रहती है।

यहाँ पर हमें यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि भाषा के रूपों में परिवर्तन किस प्रकार सम्भव होते हैं। वैदिक भाषा से लेकर आज तक की प्रान्तिक भाषाओं के रूप किस प्रकार निष्पन्न हुए—इस विषय का अध्ययन विशेष महत्व का है। पहले हम भाषाओं में उत्पन्न होने वाली विभिन्नता पर विचार करेंगे।

भाषा-विभिन्नता के कारण

१—उच्चारण सौकर्य या मुख-सुख

किसी भी समाज में पठित अपठित चतुर मूर्ख सभी प्रकार के प्राणी होते हैं। ये समस्त प्राणी भाषा का उच्चारण समान रूप से नहीं करते है। इसीलिए एक ही समाज में शब्दों के भिन्न भिन्न उच्चारण देखे जाते हैं। एक समाज में जब दूसरे समाज का अथवा एक देश में जब दूसरे देश का व्यक्ति आ जाता है तब शब्दों के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होने लगता है। नागरिकों एवं ग्रामीणों के शब्द प्रयोग में सर्वत्र भिन्नता पाई जाती हैं। नागरिक टिकट शब्द का प्रयोग करेगा और ग्रामीण टिक्कस या टिकस कहेगा। हिन्दू रामचन्द्र कहेगा जब कि मुसल्मान रामचन्दर कहेगा। किंचितमात्र किंचाभर सूक्ष्म–छच्छिम स्टूल–सटल दुग्धाहार–गोखाहार या दोगधाहार ये सब भाषा विभिन्नता के ही उदाहरण हैं। उच्चारण सौकर्य और मुख सुख भी शब्दों के रूपों का विकृत कर दिया करते है।

२—अक्षरों का न्यूनाधिक्य

लिपि में अक्षरों का न्यूनाधिक होना भी भाषा भिन्नता का कारण बन जाता है। उदाहरण के लिए अरबी में प की ध्वनि नहीं होती अस्तु उसके लिए वर्णमाला में भी प नहीं होता। इसीलिए गोप का वहाँ गोबा बन जाता है।

---

else the product of a mystical spirit of the folk It b gan in man s attempts to imitate noises (bow wow theory) or in his natural sound producing responses (The ding-dong theory) or in violent out cries and exclamations (The 'Pooh Pooh theory)

—Leonard Bloomfield—Language P 5

३—अमर्यादित उच्चारण

जब उच्चारण करते समय ध्वनियों में कभी आधिक्य और कभी न्यूनत्व कर देते हैं तब शब्दों के रूप में परिवर्तन हो जाता है। यथा– वस का वोस । यह बास राज (Rose के साम्य में बाज हुआ। गुजराती तथा मराठी में ज के लिए झ की ध्वनि का प्रयोग होता है। अस्तु वसु महाशय बास से बोस बन गए। इस प्रकार की बढ़ी हुई अमर्यादित ध्वनियाँ शब्दों के रूप-विकार का कारण बना करती हैं।

४—व्याकरण की एकता का अभाव

नागरिक भाषा के व्याकरण-सम्मत रूप का प्रयोग करता है जब कि एक ग्रामीण व्याकरणिक नियमों की प्रायः उपेक्षा कर दिया करता है। यह तो ग्रामीण जीवन की बात हुई। पर साहित्यिक क्षेत्र में भी व्याकरण की एकरूपता के अभाव में शब्द प्रयोगों में भिन्नता पाई जाती है। संस्कृत में तीन वचन हैं पर उसी से उद्भूत होने वाली हिन्दी में केवल दो ही वचन हैं। इसके द्वारा भी भाषा रूपों में अन्तर उत्पन्न हो जाया करता है। एक ही शब्द भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न लिंगों में प्रयुक्त होता है। यथा—हिन्दी में हाथी आता है दही अच्छा है पर बंगला में हाथी आती है दही अच्छी है प्रयोग होगा। एक ही भाषा में शब्दों के प्रयोग में अन्तर देखा जाता है। यथा—वायु चलता है वायु चलती है 'आत्मा विचार करती है आत्मा विचार करता है आदि प्रयोग चला करते हैं।

५—शब्दों का नव निर्माण

कभी-कभी भावों और विचारों की गोपनीयता की दृष्टि से कुछ विशिष्ट शब्द संकेत (कोड वर्डस) बना लिए जाते हैं। यही शब्द दूसरी भाषा में प्रचलित होकर भाषा के रूप को बदल दिया करते हैं। भिंडी के लिए (lady finger) का प्रयोग सांकेतिकता का ही उदाहरण है। आटा के लिये ग्रामीण भाषा में पेषण (पिसान) शब्द प्रचलित है। कहीं कहीं इसे पिहित भी कहते हैं और इसी पिहित ने पथी (पनथी) शब्द की सृष्टि कर डाली।

६—अर्जन की क्रिया

भाषा के विकास में अर्जन की क्रिया का भी विशेष महत्व है। हम परस्पर सम्मिलन-काल में नित नूतन शब्दों का आदान प्रदान करते हैं और अपनी भाषा के भाण्डार को समृद्ध बनाते हैं। पर इसके साथ ही कतिपय शब्द अति अप्रचलित होकर प्रयोग-बाह्य भी हो जाते हैं। यह प्रयोगबाह्यता ही शब्दों की मृत्यु का कारण बनती है। एक शब्द विस्मृत हो जाता है तो उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए दूसरा शब्द स्थान ग्रहण करता है। भाषा की यही प्रक्रिया उसको निरन्तर जीवनदान दिया करती है।

भाषा, सभ्यता एवं संस्कृति

सभ्यता किसी जाति की उन प्रतिपत्तियों का नाम है जिन्हें वह सामाजिक संदर्भ में कई युगों के परिष्कारों के उपरान्त प्राप्त करती है। सभ्यता सभ्य का भाव है। सभ्य सभा के योग्य पुरुष का सूचक है। सभा एक नहीं, अनेक व्यक्तियों से मिल कर बनती है। यह व्यक्ति प्राकृत नहीं संस्कृत होते हैं। इनके विचार इनकी वाणी तथा इनकी कार्यशैली एक विशिष्ट साँचे में ढली रहती है। सभ्य व्यक्तियों से आशा की जाती है कि वे अहंवादी न होकर समवादी होंगे। अपने को पीछे रख कर भी दूसरों का ध्यान रखेंगे। समिति में बैठ कर वे इतने उदार तो अवश्य होंगे कि अपने साथ दूसरे के दृष्टिकोण का विचार कर सकें। वाणी इस सभ्यता की वाहिका है और इसीलिए भाषा का सभ्यता के साथ अविच्छिन्न संबंध है।

भाषागत शब्द वाक्यविन्यास, अभिव्यक्ति कौशल लोकोक्तियों तथा विच्छित्ति वैभव आदि सभी से सभ्यता के विविध अंगों पर प्रकाश पड़ता है। एक एक शब्द अपने गर्भ में जिस विचार राशि को लिए हुए है वह हमारे पूर्वजों की क्रिया प्रणाली विचार पद्धति तथा व्यवहार क्षमता की द्योतिका है। यदि ये शब्द जीवित है तो उनके साथ संबद्ध विचार राशि भी जीवित है और उसके साथ हमारी वह परंपरा भी जीवित है जो युगों के अंतराल को चीरती हुई अपनी सशक्त जीवनोपयोगी सामर्थ्य रखती है। वैदिक युग के हरि, असुर देव राक्षस इन्द्र अग्नि मित्र वरुण आदि शब्दों में हम उन दिनों की प्रसरणशीला एवं गवेषणात्मक भाषा शैली के दर्शन होते हैं। वैदिक ऋषि जिस चिंतन पद्धति को अपने साथ लिए है वह उसकी सामाजिकता का भी परिचय देती है। वे नहीं चाहते कि हममें कोई पाप का प्रशंसक हमारा राजा बने। वे चाहते हैं कि हमारे कर्म श्रेष्ठतम कर्म हों। परम सत्ता जो हमारी जनक बन्धु विधाता सभी कुछ है हमारी उपास्य देवी बने। उसके अतिरिक्त अन्य किसी का गुणगान व्यर्थ है हानिकारक है। ब्रह्माण्ड भर का वैभव उसी का है उसी ने हम सब को प्रदान किया है। शरीर और यह विराट जगत यज्ञ के रूप में है जिन्हें देख कर हम अपना जीवन यज्ञपरायण बनाना चाहिए। इसी से आलोक विकीर्ण होगा। यज्ञ के विपरीत पथ का प्रयाण वध का हेतु है। ऐसे उदात्त समाज की कल्पना हम वैदिक भाषा में प्रयुक्त शब्दों से ही कर लेते हैं। यदि ये शब्द हमारे पास न होते तो क्या हम वेदयुगीन सभ्यता का अनुमान भी लगा सकते थे।

ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है जो उस युग की जातिगत विशिष्ट मनोवृत्ति की परिचायिका है। कतिपय शब्दों का भाव यद्यपि आज लुप्त हो चुका है तथापि आर्यों के मस्तिष्क से निःसृत तथा याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रदर्शित हमारे पूर्वजों की दिशा विशेष की ओर उन्मुख मनोवृत्ति उस युग की भाषा द्वारा जानी जा सकती है। उपनिषद एक भिन्न सभ्यता का दिग्दर्शन कराते हैं जिसमें ब्रह्म चिंतन की प्रधानता है। यज्ञों को जो संभवतः द्रव्ययज्ञ का रूप धारण कर चुके

थे और जो सभव है हिंसा बहुल भी रहे हों—इन उपनिषदों में श्लाघ्य दृष्टि से नहीं देखा गया। हमारी समस्त जातीय शक्ति एवं बौद्धिक चेतना, उस परात्पर तत्व के साक्षात्कार करने में लीन थी जिसे अणु से अणु महान से महान ईश्वरों का महेश्वर देवताओं में परम दवत रूपका में सब श्रेष्ठ रक्षक और भुवन भर का आराध्य देव कहा जाता है। 'अन्न व ब्रह्म' से लेकर प्राण मन, बुद्धि को पार कर तहुए उस आनन्दमयी सत्ता की उपलब्धि ही हमारा लक्ष्य बनी थी। सत्य इसका आयतन था और मधु विद्या रसो व से की अभिव्यापिका महती साधना। भारतीय सदैव से ही अध्यात्मप्रिय रहे हैं पर उपनिषद का युग तो उन दिनों और क्रिया कलापों से विशेष अध्यात्मप्रिय प्रतीत होता है।

रामायण और महाभारत ये दोनों महाकाव्य ग्रन्थ अपने अपने युग की संस्कृतियों के परिचायक हैं। उस युग में दो प्रकार की संस्कृतियाँ विद्यमान थी। एक आर्य संस्कृति और दूसरी अनार्य संस्कृति। रामायण के राम आर्य-संस्कृति के पोषक और रावण अनार्य संस्कृति का पालक था। इसी प्रकार महाभारत के कृष्ण आर्य मर्यादाओं के प्रतिष्ठापक हैं जब कि कंस और दुर्योधन के साथ अनार्य प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन देने वाले पाए जाते हैं। रामायण पूर्ण आदर्शवादी व्यवस्था की सृष्टि करती है, पर महाभारत में घोर यथार्थ के रूप का दर्शन होता है। अयोध्या के राज्य को छोड़ कर राम वन को जाते हैं इसलिए कि भरत राज सुख भोगें पर भरत राम की पादुकाओं को राम का प्रतिनिधि मान कर अपना जीवन एक तपस्वी सेवक की भाँति व्यतीत करते हैं और घर को ही वन बना लेते हैं। किन्तु महाभारत तक आते आते राज्य के लिए कितना भीषण नर संहार हुआ। एक भाई दूसरे भाई के रक्त का प्यासा! राज्य का इतना बड़ा मूल्य!! यही है समाज के आदर्श और यथार्थ का रूप जो हम क्रमशः रामायण और महाभारत से प्राप्त होता है। उपासना क्षेत्र का परिचय भी इन ग्रन्थों से प्राप्त होता। महाभारत में प्रयुक्त शब्द नारायण वासुदेव हरि तथा कृष्ण इस बात के प्रमाण हैं कि प्रभु की उपासना इन विभिन्न नामों से होने लगी थी। इसमें याज्ञिक अनुष्ठानों में होने वाली बलि का भी उल्लेख पाया जाता है, साथ ही ऋषियों के एक ऐसे वर्ग का भी पता चलता है जो ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित पशु-बलि का विरोध करता था। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता सबधी इन सूचनाओं को देने वाली महाकाव्यों की भाषा ही तो है। इसलिए भाषा को मानव संस्कृति की संवाहिका कहा जाता है।[1] इसके अभाव में किसी भी संस्कृति का विकास एवं प्रसार असंभव है।

---

1 Language is often said to be the vehical of human culture and indeed it would be difficult to imagin a culture however crude without language —O car Luis chavarria Aguilar

—Lectures in Linguistics, Page11

जन एव बौद्ध ग्रन्थों म ऐसे कितने ही प्रसग आते है जहाँ हिंसा परक यज्ञ का विरोध किया गया है और अहिंसा के माग को ही जीवन का कल्याणकारी माग माना गया है। जनधम म जीवन की कृच्छ साधना को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। उनका विश्वास था कि शरीर ही आत्मा-परमात्मा क मिलन म बाधक है। अत इसे अधिकाधिक सयमग्रस्त बनाया जाय। जनधर्मानुसार अनशन और उपवास का इतना अधिक आधिक्य कि प्राणों का विसजन हो जाय साधना का सर्वोत्तम रूप माना जाता है। उस युग की जनधम की छाया म पलन वाली सभ्यता का रूप न ज्ञात हो पाता यदि जन ग्रन्थों की भाषा ने उसके स्वरूप को सुरक्षित न रखा होता। इसी प्रकार बौद्धों के धम-ग्रन्थों म सम्यक दृष्टि सम्यक सकल्प सम्यक वचन सम्यक कर्मान्त सम्यक आजीव सम्यक यायाम सम्यक स्मृति, सम्यक समाधि आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा बौद्धकालीन धार्मिक व्यवस्था का परिचय प्राप्त होता है। कम-क्लेश का निरोध करने के लिए समाज मे य अष्टांगिक माग प्रचलित थ। बौद्ध साहित्य मे पचशील शब्द आता है। पचशील के अन्तगत प्राणातिपात विरति अदत्तादान-विरति काम मिथ्याचार विरति मृषावाद विरति तथा सुरा मरय-प्रमाद स्थान विरति की गणना होती है। पचशील के इन रूपों द्वारा आचार परम्परा का ज्ञान होता है। यदि ये शब्द न होते तो आज हम कसे जान सकते थे कि बौद्ध युगीन सभ्यता म धार्मिक व्यवस्था किस प्रकार की थी। इसी प्रकार अन्य कितने ही शब्द युगपरक सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हैं। शब्द अपने म अपने युग का इतिहास लिए हुए चलते हैं।

मानव समाज-सापेक्ष प्राणी है उसकी प्रत्येक गतिविधि समाज की गतिविधि बना करती है और समाज अपन क्रियाकलापों द्वारा सभ्यता क स्वरूप का निर्माण करता है। हम जिस प्रकार से अपने भावों को व्यक्त करते हैं तथा दूसरे के भावों को सुनते हैं अत्याचार और अनाचार क प्रति जिस आक्रोशमयी वाणी का प्रयोग करते हैं दया-दाक्षिण्य उत्सग आदि क प्रति जिन उल्लासमय स्वरों का सचार करते है व सब हमारे अतस के स्वरूप को अभि यक्त करते हैं और यह अभिव्यक्ति ही सामाजिक रूप म सभ्यता का आभास प्रस्तुत करती है। प्रकारान्तर से हम यह कह सकते है कि हमारी भाषा सभ्यता को प्ररणा प्रदान करती है।

भाषा का ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर विकास होता जाता है त्यों-त्यों मनुष्य को अपन भावों क छिपाने की एक कला विशेष प्राप्त होती जाती है। सामान्यत यह देखा जाता है कि जो आदमी बोलना नहीं जानते या यों कहिये कि जिनके पास भाषा कौशल नहीं है व अपन हृदय के भाव को ज्यों का ज्यों बिना किसी कलात्मक आवरण क स्पष्ट कर देते हैं। पर जिन्हें भाषा की कला[1] का ज्ञान है व अपनी

1 Language is an art and the arts are best defined as language
—Aspect of Language Page 3

वाणी मे बड़ा ही आकर्षक चमत्कार विधान उत्पन्न करते हैं और मनचाहे ढंग से अपने भाव को व्यक्त कर देते है। ऐसी स्थिति में कभी कभी सत्य पर एक बड़ा ही मोहक अवगुंठन पड जाता है। इस दृष्टि से एक साथ विचारक भाषा का अधिक श्रेय नही प्रदान कर सकता पर इसका एक दूसरा भी पक्ष है। यदि भाषा न होती तो हमारे भाव विचार अवगुंठित अथवा अनवगुंठित किसी भी रूप मे व्यक्त न हो सकते थे। भाषा के अभाव मे न तो हमारे स्व का विस्तार ही सम्भव था और न हमारी आत्मानुभूति का किसी प्रकार का सरक्षण ही हो पाता।

परस्पर सलाप की क्रिया मे हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसके द्वारा भी हमारी सभ्यता के स्तर का अनुमान किया जा सकता है। सलाप करते समय भाषा का एक नाटक सा होता है जिसमे प्रत्येक पात्र अपने भीतर ही नाट्य क्रिया करता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षत वायु की लहरियाँ नही बोलती किन्तु रेडियो से हम बोल सुनते हैं, टेलीफोन के तार प्रत्यक्ष ध्वनि करते हुए नहीं दिखाई पडते लेकिन हम ध्वनि सुनते हैं रेडियो और तार तो केवल मध्यस्थता करते हैं सवादो का सवहन करते हैं उनके प्रसार मे सहायक होते हैं सवाद देने वाला और उसे ग्रहण करने वाला तो दूसरा ही है उसी प्रकार व्यक्ति और उसका मुख केवल एक माध्यम है, बोलने वाला तो कोई दूसरा ही है जो उसके अतस मे विद्यमान है किन्तु जब ध्वनि शब्द सामने आ जाते हैं तब व्यक्ति का समस्त व्यक्तित्व प्रत्यक्ष हो उठता है और जैसे रेडियो टेलीफोन आदि किसी समाज की सभ्यता का परिचय देते हैं उसी प्रकार भाषा भी किसी व्यक्ति अथवा समाज की सभ्यता के रूप को व्यक्त करती है। जिस प्रकार सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है उसी प्रकार भाषा का भी। स्पष्ट है कि व्यक्ति का ढाँचा नाद नही करता नाद करने वाली—भाषा के स्वरूप का निर्माण करने वाली तो उसकी आत्मा है। ज्यो ज्यो आत्मा का विकास होता जाता है त्यो-त्यो भाषा भी गतिमान होती जाती है। इस प्रकार भाषा वास्तविकता और उसके पर के प्रसार मे एक आदोलित गति के रूप मे है। यह सत्य नवानाति नवीन रूपो मे अपने को प्रकट करने के लिए मचलती रहती है।

भाषा की एक आध्यात्मिक इकाई भी है जिससे समस्त विश्व मे एक प्रकार की भावानुभूति को व्यक्त करने वाली ध्वनियो मे साम्य एव सातुल्यता के दर्शन होते हैं।

जिस प्रकार सभ्यता का विकास समुदाय की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार भाषा भी समाज की अपेक्षा रखती है। एक व्यक्ति चाहे कितनी ही ध्वनियो और सकेतो द्वारा अपने को व्यक्त करे पर भाषा का निर्माण नही कर सकता स्वय ब्रह्म भी, भले ही वह अपने से सवाद कर ले परन्तु वह भाषा को जन्म नही दे सकता। भाषा का अभिप्राय अथवा उसका ध्येय कुछ भी हो उसके जन्म के लिए अनेक

व्यक्तियो का होना अपेक्षित है क्योकि व्यक्ति ही भाषा के स्वरूप को सवहन कर सकते हैं। भाषा एक प्रकार म मानवो के बीच प्रतिष्ठित एक परम्परा है। सभ्यता भी मानव-जाति की एक परम्परा के रूप म प्राप्त होती है। मानव की भाषा ही सभ्यता की परम्परा को अक्षुण्ण रखती हुई उसके भावी रूप का अभिनव शृगार करने म सक्षम होती है। इस प्रसग म निम्नाकित विचार द्रष्टव्य हैं—

The use of language is cultural accumulation and historical transmission is obvious and important This applies not only to sophisticated levels but to primitive ones as well A great deal of this cultural stock in trade of a primitive society is presented in a more or less well defined linguistic form Proverbs medicine for mula standardized prayers folk tales standardized speeches song texts geneologies are same of the more over forms which language takes as a culture preserving instrument

—Encyclopaedia of the social seiences Vol IX Page 161

भाषा और प्रकृति

भाषा वैज्ञानिको ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध म विचार करते समय यह निश्चित किया कि प्राकृतिक क्रियाओ के अनुकरण के आधार पर कतिपय शब्दो का निर्माण हुआ। उदाहरणार्थ पेड से पत्ता गिरा और पत की ध्वनि हुई। उसी ध्वनि के आधार पर पत्ता शब्द बना झरने का झर झर करके गिरना ही झरने शब्द के निर्माण का मूल हेतु है। इस स यह निष्कर्ष निकाला गया कि भाषा प्रकृति मे समाई हुई है और यह विचार इतना अधिक पुष्ट होता गया कि भ्रमवश लोगो न भाषा को प्रकृति का ही एक अग मान लिया। कतिपय विचारको का यह मत है कि जलवायु और प्रकृति भाषा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते उन्हे यह मानने में भी कदाचित आपत्ति हो सकती है कि विभिन्न जातियो तथा उनकी भाषा से कोई नैसर्गिक सम्बन्ध है। भाषा की धुरी देशो तथा विभिन्न वातावरणो पर टिकी नही रहती। उसका घरो तथा जनपदो स भी कोई सम्बन्ध नही हैं जातियो और दलो के दलदल म वह नही फँसती।[1] इस कथन स इतना ही तात्पर्य ग्रहण किया जा सकता

1 In the light of modern science no one dares to believe that climate and the nature of the soil have any influence on the speech of man Nor has it ever been proved that there is a necessary natural connection between races and their language forms The centre of gravity of a language does not lie in countries and climate nor in houses and settlements Nor in the animal groupings and species of man

—The Spirit of Language in civilzation —Page 81

है कि भाषा का प्राण उसके उचित प्रयोग में है। उसका प्रयोग ही उसके विकास का एकमात्र मूल हेतु है। भौगोलिक परिस्थितियाँ, परिवार, समाज आदि उसे प्रभावित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि यह प्रभाव सत और असत दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं किन्तु ये प्रभाव अपना काम तभी करते हैं, जब वे भाषा के अन्तराल में प्रविष्ट हो सकें। प्रयोग की गतिमयता के कारण ही भाषाएँ जड़ पकड़ती हैं। जिस भाषा का प्रयोग मन्द पड़ जाता है वे भाषाएँ कालान्तर में केवल ऐतिहासिक उल्लेख की वस्तु रह जाती हैं। इसके प्रतिकूल जिन भाषाओं का निरन्तर प्रयोग होता रहता है, उनके बोलने वाले इतस्ततः घूमते-फिरते हैं, वे भाषाएं नित्य नूतन समृद्धि को प्राप्त करती हैं और समुन्नत हो जाती हैं। अस्तु भाषा का प्रयोग ही उसकी प्रेरक शक्ति है। ऊपर हमने भाषा के ऐतिहासिक उल्लेख की बात कही है। भाषा इतिहास की सम्पत्ति बन कर पूर्णतः मृत नहीं हो जाती, प्रयोग के अभाव में वे विस्मृत अवश्य हो जाती हैं पर वे अपने धूमिल भूतकाल के प्रान्तर से किसी न किसी रूप से प्रचलित भाषाओं का सम्पर्क प्राप्त कर लेती हैं। जिन्हें हम मृत भाषा कहते हैं उनके कोई न कोई शब्द तत्सम या तद्भव रूप में प्रचलित भाषाओं में पाये जाते हैं। भाषाओं की यह प्रकृति हमें इस तथ्य को मान लेने के लिए प्रेरित करती है कि कोई भी भाषा कभी मृत नहीं होती। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी प्रयोग में आने वाली भाषा का आरम्भ और अन्त होना ही चाहिए। वस्तुतः भाषा की गति अबाध है। वह सृष्टि के आरम्भ से चल कर अन्त तक चलती चली जायगी। भाषा की अबाध धारा में परिवर्तन के नाना आवर्तों का पड़ना स्वाभाविक है। मर्त्यों को यह संसार भाषा के नैसर्गिक स्वरूप का पता भले ही न लगा सके पर वह प्रकृति की सहचरी होने के कारण शब्दों और वाक्यों के रूप में अपना निरन्तर विकास करती रहती है।

भाषा सम्पूर्ण प्रकृति में एक सम्राज्ञी के रूप में विराजमान है, विश्व की समस्त ललित भाषाएँ उसकी महिमामयी गोद में समाई हुई हैं। नृत्य शारीरिक संकेतों की भाषा है, संगीत नाद की विज्ञानमयी भाषा है, चित्रकला रंगों और रेखाओं का मुखर सलाप है, स्थापत्य कला आदि ठोस जड़ पिण्डों के भीतर से आती हुई भाषा की गूंज है और कविता तो भाषाओं की भी भाषा है। प्रतिदिन के बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले शब्द अथवा नाद, लय अथवा ताल हमारे भावों और इच्छाओं के अनुचर हैं। ये सब प्रयोग द्वारा शासित होते हैं। प्रयोगों की विभिन्नता उनके रूप व्यापार की विभिन्नता बना करती है। कविता में वे एक अत्यधिक बलवती प्रेरणा के रूप बन जाते हैं। पिंगल और प्रयोग इनकी सीमा का निर्धारण करते हैं। काव्य अथवा कला का जितना भी शास्त्रीय विवेचन हुआ है उन सब में इस तथ्य को सर्वत्र स्वीकार किया गया है कि कविता प्रकृति की अनुकृति है। प्रकृति और जिसकी अनुकृति में कलाकार अथवा कवि सुख मानता है वह वस्तुतः उसकी भाव

भाषा का संगीत और सलाप है। उसी का भजन उसी की गुनगुनाहट, उसी की लय और उसी की तान है। इन्हीं सब का आरोह एव अवरोह वाणी के रूप म वह अपने चतुर्दिक सुनता-सुनाता आया है।

मानव का निर्माण प्रकृति के उपादानो स हुआ है। वह प्रकृति के ही उ मुक्त वातावरण म अपनी आँखें खोलता है प्रकृति के ही विभिन्न उपकरण उसका लालन पालन एव सवधन करत है और अततोगत्वा एक दिन वह अपने समस्त भौतिक-स्थल रूप को प्रकृति को ही सौंप देता है। इस प्रकार प्रकृति और मानव का परस्पर घनिष्ट सबध है। प्रकृति ही उसे उसके भावजगत कल्पनाजगत और उसकी भाषा का निर्माण करती है। इस प्रक्रिया मे हम प्रकृति मानव और उसकी कला को सगु फित पाते हैं। भाषा भावो का सवहन करती है। भावो द्वारा भाषा को बलवती एव गतिमती बना देन म ही काव्यत्व का साफल्य है। और भाषा का कल्वर भावा क अन्तर का प्रकट कर सके भाषा प्रयोगो द्वारा मूच्छित चेतनाए पुन जागरूक हो सकें तभी कवि प्रतिभा का मनोरम दशन होता है। कविता का भाषाओ की भाषा कहने का यही अभिप्राय है। प्रत्यक भाषा का प्राण उसका काव्यत्व है। वक्ता कलाकार और कवि भाषा के प्रयोग सबधी नियमों की अवहेलना कर सकते है अवश्य कित उसकी प्रकृति स दूर नहीं जा सकते। प्रकृति क द्वारा निर्मित भाषा अपना रूप बदल सकती है किन्तु वह प्रकृति को छोड नही सकती।

जिस प्रकार आत्मा के बिना मस्तिष्क का अस्तित्व नही रह सकता उसी प्रकार धमशून्य कविता और कला भी निष्प्राण है। धार्मिकता कविता और कला को वह सजीवनी शक्ति प्रदान करती है जिसस न केवल कविता और कला जीवित रहती है अपितु दूसरो को भी जीवन दान दे जाती है। इस सम्बन्ध म हम यह भी सदव स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ कही भी कविता और कला क आभ्यतरिक सौन्दय के दशन होते हैं वहाँ भाषा की आधारभूत एकरूपता स्पष्ट परिलक्षित होती है। धार्मिक यक्ति क कानो म प्रत्येक वस्तु की भाषा सुनाई देता है। उससे विश्व की प्रत्येक वस्त पेड प्रस्तर खड जड जोव सभी सलाप करत हुए प्रतीत होते हैं। केवल मनुष्यो का ही बातचीत का अधिकार नही प्राप्त है। धम प्राण व्यक्ति से तो सभी वार्तालाप करते हैं। वह अपना कविता कला द्वारा ससार क समस्त स्थावर एव जगम पदार्थो को अनुप्राणित करता रहता है। उसम उनकी भाषा को समझने तथा उनके व्यवहार को दूसरो को समझाने की क्षमता है। कवि स तो विश्व का प्रत्येक कण बोलता है। इसीलिए ब्रह्माण्ड का प्रत्येक सत्य उसके लिए भाषा का रूप ग्रहण करता है। भाषा क जन्म का रहस्य आदि मानव की चिन्तन मुद्रा म सन्निहित है। किस प्रकार प्रकृति ने उस चेतना प्रदान की और प्रकृति से चेतना प्राप्त कर किस प्रकार उसने अपने अन्तस्तल म भावो एव अनुभूतियो को सजोया और किस प्रकार उसने प्रकृति से ही प्रेरणा प्राप्त कर भाषा के माध्यम स उन्हे अभिव्यक्त

क्रिया—यह सब एक बड़े कौतूहल का विषय है। मानव की जिज्ञासा वृत्ति इस दिशा म कभी पूर्ण तोष नहीं प्राप्त कर पाती क्योंकि ज्यों-ज्यों मानव का, प्रकृति का विकास होता जाता है त्यों-त्यों भाषा भी विकास को प्राप्त करती जाती है। इसी रूप म भाषा और प्रकृति का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

भाषा और जीवन

किसी भी भाषा का जीवन मानव-जीवन की ही भाँति गतिमान रहता है। यदि मनुष्य काम करना बन्द कर दे और उसके शारीरिक अवयव पूर्ण विश्राम की स्थिति म रहें तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब वह साधारण रूप स उठने बैठने म भी असमर्थता अनुभव करने लगे। उसकी क्रियाशीलता ही उसको सजीव बनाये रखती है। भाषा की भी यही स्थिति है। वह प्रयोग के माध्यम स ही स्पंदन शील बन कर अपने रूप का सतत विकास कर सकता है। जिस प्रकार प्रकृति की वनस्थली म कभी पतझड़ आते हैं और कभी बसन्त की श्री-सुषमा वन का शृंगार करती है कभी हिमाच्छादित उत्तुंग शैलमालाएं हिमांशु की धवल ज्योत्स्ना प्राप्त कर रजत श्री की सृष्टि करती है और कभी कवल नीरस शिलाखंड ही पवनराज की सम्पत्ति बनते हैं कभी जलधि की उत्ताल तरंगें लाख-लाख अभिलाषाओं स भर कर निशाकर की रश्मियों को चूमने के लिए मचल पड़ती हैं और वही सागर कभी ऐसा प्रशान्त ऐसा सुस्थिर-समस्त स्पदनों स हीन, उसी प्रकार कोई भी भाषा सदैव एक रूप नहीं रहती। प्रयोग की अतिशयता ही भाषा का जीवन बनता है। निरन्तर की अबाध-गति ही भाषा का प्राण है। भाषा की सप्राणता का दर्शन उसकी गति शीलता तथा स्थायित्व के अभाव म है। भाषा-दर्शन जीवित और मृत भाषाओं म किसी प्रकार का भेद नहीं मानता। वह विरोधों और मत विभिन्नताओं का भी कोई मान्यता नहीं प्रदान करता। विभिन्नतायें तो बहुलता की सृष्टि करती हैं। इसीलिए भाषा के विभिन्न स्वरूप एक दूसरे स पृथक नहीं हो सकते। उनकी भिन्नता म ही अभिन्नता के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार उठते बादलों म और गिरते हुए जल प्रपातों म एक ही जल के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार भाषा के भी विभिन्न स्वरूप हैं जिनके मूल म एक ही तत्व विद्यमान है। स्वरों का आरोह एवं अवरोह जैसे स्वर के रूप को व्यक्त करता है वैसे ही भाषा भी अपने कई रूप व्यक्त कर सकती है। विराट की असीमता अबाधता और अभेदता की ही भाँति कोई भी भाषा असीम अबाध और अभेद रहती है और जैसे विराट साकार-सगुण बन कर अपने को सीमित-सा कर देता है वैसे ही भाषा भी हमारी चेतनाओं म सिमिट कर एक क्षणिक प्रकाश रेखा के रूप में बँध जाती है।

भाषा को हम मस्तिष्क की पूर्ण चेतन अवस्था भी मान सकते हैं। जिस प्रकार स चेतन मस्तिष्क नाना क्रिया-कलापों की सृष्टि करता है उसी प्रकार भाषा भी

नादमय होकर सगुण हो जाती है और जस सागर की अतल गहराई से उठ कर विराट लहरें फनिल परिवेष्टन स परिवेष्टित हो सश द एव साकार हो उठती हैं वस ही भाषा भी मानव क अन्तराल स फनिल लहरा क रूप म उठ कर साकार बन जाती है। इसी रूप म वह मानव हृदय की पूण याख्या बन जाती है। इसीलिए किसी भी भाषा का इतिहास उसके बोलने वालो क भावो—मानसिक चेतनाओ का इतिहास है। हम किसी भी भाषा का उ र्गे और उसके विकास का क्रमिक अध्य यन करें तो हम उस भाषा के बालने वालो क सम्पूण सास्कृतिक विकास एव राज नैतिक उपलब्धियो का परिचय पा सक्ते हैं। भाषा क रूप में मानो हमारा समस्त बिखरा ज्ञान सकलित एव सजीव हो उठता है। हमार जीवन क चारा ओर जितना भी प्रसार है वह यद्यपि प्रत्यक्षत भाषा से भिन्न है पर सब भाषामय है। जब कभी आवश्यकता होती है तब प्रस्तर अथवा पत्र शिलाए अथवा ताम्रपत्र पवन अथवा तारतत्तु बोलने लगत है। ये सभी भाषा द्वारा अनुप्राणित होत है और समय आन पर भाषा को सजीव भी बनाते हैं।[1]

हमारा समुन्नत जीवन हमारे राष्ट्र का गौरव चिह्न है। भाषा इस गौरव का वहन करने वाली—माध्यम बनती है। इस दष्टि स मानव-जीवन मे भाषा का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। वस्तुत भाषा एक विशेष मनोदशा है एक विशष स्फूर्ति है एक अमोघ शक्ति है। जिस प्रकार प्रत्यक राष्ट्र अपनी विशष शक्ति रखता है उसी प्रकार भाषा भी अपने मे एक विशष क्षमता सजोए रखती है। बड-बड विश्वव्यापी विप्लवो के मूल मे भाषा की शक्ति काय करती रही है और रणचण्डी की दुधष मुद्रा को शात करके उस परम कल्याणी रूप देन म भाषा की ही अमोघ शक्ति न काय किया है।

जिस प्रकार राष्ट्रो म युद्ध हात हैं उसी प्रकार भाषा विषयक युद्ध भी देख जाते है। उनम कभी-कभी ता इर्ष्या और मूखता का ही दशन होता है। पर ये युद्ध जातीय जीवन का सजगता का प्रमाण भी प्रस्तुत करते है। जीवन स्वत एक सघष है। कभी हृदय मे असत प्रवतिया जागरूक होकर युद्ध का रूप रच देती है।

---

1 The stone paper or bronze on which we write the air and wires through which we speak the ears with which we hear our larynxes and vocal cords nerves and muscles lungs and hands even our brains become language when necessity arises though in *themselves they are something completely different* They allow language attributed to them in their turn give forth language whenever circumstances demand it

—The Spirit of language in Civilization —Page 110

हृदय का सत जमन के इस व्यापार के प्रति विद्रोह कर उठता है। इस प्रकार सत और असत का संघर्ष छिड़ जाता है। भाषा भी जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इस संघर्ष से अछूती कैसे रह सकती है। मानव की महत्वाकांक्षा अपनी सार्वभौम सत्ता के प्रसार में ही संतोष अनुभव करना चाहती है। भाषा भी इसी वृत्ति का अनुसरण करती है। वह भी सार्वभौतिक चक्रवर्ती साम्राज्य की आकांक्षा रखती है। कालचक्र के माध्यम से मानव मन की कामनाएँ जिस कभी साकार होती है और कभी नष्ट होती हैं उसी प्रकार भाषा का साम्राज्य भी बनता बिगड़ता रहता है। पर प्रत्येक विनाश न केवल निर्माण का बीज बोता है अपितु वह अपना ऐतिहासिक अस्तित्व भी किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण रखता है। कौन कह सकता है कि आज हम जिस भाषा में जो नाना सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ और कहावतें उपमायें और रूपक प्रयुक्त कर रहे हैं वे सब नितान्त नवीन हैं। यह सब भाषा कानन की भूमि में गिरे हुए बीज हैं जो उगते और बढ़ते हुए सुदीर्घ काल से चले आ रहे हैं। इस क्रम की एक परम्परा सी लगी हुई है।

जिस प्रकार समाज क्रमिक विकास करता जाता है उसी प्रकार भाषा भी धीरे धीरे अपना विकास करती है। मानव अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे के सम्पर्क में आता है। यह सम्पर्क ही भाषा के विकास का हेतु बनता है। पहले मनुष्य भी पशुओं जैसी स्थिति में था किन्तु धीरे धीरे उसने अपनी आवश्यकताओं के आधार से वस्तुओं का संग्रह किया और उनका नामकरण किया। भावों और विचारों के विभिन्न रूप उपस्थित हुए और उनका आदान प्रदान भी हुआ। उसके जीवन की इस प्रक्रिया में भाषा का योग अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। स्पष्ट है कि भाषा का यह योग प्रारम्भ में अस्थिर, धूमिल सा रहा होगा। पर धीरे-धीरे उसमें स्थिरता आई होगी। यह स्थिति उसी प्रकार है जिस प्रकार क्रमिक विकास के उपरान्त ही आध्यात्मिक-स्थिति प्राप्त होती है। यदि सामाजिक जीवन एक वृक्ष के रूप में है तो भाषा उसका फूल और फल है।[1]

भाषा और कविता

भाषा मानव के भावों का साकार रूप है। मानव के विचार शिशु भाषा के रूप में ही थिरकते हैं, किलकारियाँ भरते हैं। यदि भाषा न होती तो मानव-हृदय की संवेदनशीलता को कहाँ स्थान मिलता। भाषा ही तो हृदय की समस्त मनुहारी कल्पनाओं को रूप प्रदान करती है। कवि की आकुलता भाषा ही के रूप में तो

---

1 Language is neither root nor trunk but flower and fruit of social life

—The Spirit of language in civilization Page 187

स्पन्दवती होकर एक ऐसे भाव रूप का निर्माण करती है जिसमें विश्व हृदय डूबने उतराने लगता है। प्रत्येक जाति देश एवं राष्ट्र की भाषा में उसका समूचा व्यक्तित्व निखर उठता है। कविता जिसे हम प्राणों का संगीत कहते हैं भाषा के बिना अपने अस्तित्व का निर्माण नहीं कर पाती। इस दृष्टि से कविता भाषा की ऋणी है। पर इस सम्बन्ध में विचार का दूसरा पक्ष भी है। भाषा के जन्म का श्रेय हम कविता को दे सकते हैं। वायु जब तक शांत है तब तक वह शब्द से रहित है किन्तु वायु का आलोडन विलोडन उसका कम्पन एवं विवर्तन भीषण रव की सृष्टि करता है। पत्तों की झंकार गिरि कन्दराओं का रोर किसने नहीं सुना! वायु का यह आत्म मंथन ही शब्द का कारण बनता है। इसी प्रकार कवि हृदय का मथन, उद्वेलन भाषा को जन्म देता है। कवि अपनी कला द्वारा भाषा का शृंगार करता है। कवि काव्य निर्माण के क्षणों में स्वपरक प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर तथा परत्व की अनुभूति में लीन होकर स्वाभाविक वास्तविकता का एक ऐसा रूप प्रदान करता है जो बड़ा ही मार्मिक बड़ा ही आकर्षक एवं बड़ा ही प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है जिसको देख कर प्रत्येक सहृदय मानव आत्मविस्मृत होकर उसी रूप में लीन हो जाता है। इसे हम कवि की एक विशिष्ट सृजनात्मक शक्ति कहेंगे। कविता का कृतित्व भाषा की इसी क्रियाशीलता में है। कवि अपनी कविता में भाषा के माध्यम से पार्थिव जगत की नित्य वास्तविकता की उपेक्षा न करता हुआ विस्मय विमुग्धकारिणी अलौकिकता की सृष्टि करता है।

काव्य-जगत का यह सत्य प्रत्येक कवि के जीवन का सत्य है। स्पष्ट है कि प्रत्येक कवि अपने वैयक्तिक रूप में ही काव्य-सृष्टि करता है। इसीलिए प्रत्येक कवि की भाषा में उसकी वैयक्तिकता की छाप होती है। पर भाषा वैयक्तिक होकर भी सार्वभौम बनती है। महर्षि वाल्मीकि की कविता में उनकी अपनी वैयक्तिकता की छाप है किन्तु उनकी रचना लोक हृदय की रचना है। कालिदास बाण भवभूति सब अपने अपने ढंग से अपनी भावराशि को व्यक्त करते हैं। सूर के पद तुलसी की चौपाइयाँ, बिहारी के दोहे भूषण देव और पद्माकर के छन्द सभी कृतिकार की विशिष्टताओं से युक्त हैं। कोई लाक्षणिकता का सहारा ले रहा है तो कोई व्यंजना का और कोई रूपक उपमाओं उत्प्रेक्षाओं के माध्यम से अपनी अभिव्यक्तियों को तीव्रता प्रदान कर रहा है। पर इन समस्त वैयक्तिक रूपों की यह विशेषता है कि लोक जीवन की अनुभूति इन सब में समाई हुई है। इसलिए हम कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की सहगामिनी भाषा लोक जीवन का साहचर्य सुख प्रदान करती है। भाषा का यह रूप अनित्य होते हुए भी शाश्वत है। दिक् और काल के बंधनों से जकड़ा हुआ भी उन्मुक्त आत्मा के पंखों से अलंकृत है। साधारणतः समस्त ससीमित पर कल्पना की उड़ान से भी परे है। जीवन की अनेक रूपताओं एवं विशृंखलताओं के रोमांचकारी असीम में विहरण शीला होती हुई भी व्यक्ति से उसके स्व से शासित

तथा शास्त्रीय सृजनात्मक इच्छा से परिवेष्टित है। वह अपने में स्थिर भी है, चिंतन में लीन भी है पर समस्त बन्धनों से परे है। कविता का स्वरूप ग्रहण करनेवाली भाषा वह सूर्य है जिसकी प्रकाश रश्मियाँ अनन्त दिशाओं में विकीर्ण होती रहती हैं।

भाषा और धर्म

अति प्राचीनकाल से धर्म की भाषा और काव्य की भाषा के बीच एक सम्बन्धसूचक भावना चली आ रही है। हमारा प्राचीन साहित्य काव्यमय है। धर्म का विवेचन भी कविता में हुआ है। इसलिए धर्म एवं काव्य की भाषा को एक ही समझा जाने लगता है। तात्विक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर केवल उनके क्रियात्मक रूप में प्रकट होता है। काव्य जब अपनी गहनता और तीव्रता के कारण जीवन में समा जाता है तब वही धर्म बन जाता है और धर्म जब जीवन के तल से केवल छितराते हुए निकल जाता है तब उसे काव्य की संज्ञा प्राप्त होती है।

धर्म की भाषा का सबसे प्रथम गुण है उसका उद्भावक होना। धार्मिक ग्रन्थों में पाये जाने वाले प्रार्थना के मन्त्र, स्तोत्र आदि को पढ़ कर हृदय में एक प्रकार की विशेष भावदशा की उद्भावना होती है। उस भाषा में भाव मानो मूलरूप धारण कर लेता है। फलतः श्रोता एवं पाठक उसमें एक विशिष्ट प्रकार की तल्लीनता प्राप्त करता है। धार्मिक भाषा का दूसरा प्रकार नाटकीय होता है। इसे हम इच्छा और क्रिया की भाषा भी कह सकते हैं। इस नाटकीय भाषा में दन्तकथाओं के अन्तर्गत आने वाले सभी तत्वों का समावेश हो जाता है। प्राचीन काल में प्राकृतिक घटनाओं एवं मानवीय वृत्ता की अभिव्यक्ति पौराणिक ढंग मिथिकल (Mythical) से होती थी। पौराणिकता की वृत्ति से जो हमें उपलब्ध होती है उसकी तुलना वैज्ञानिक उपलब्धियों से नहीं की जा सकती। पौराणिकता में एक प्रकार का रूपक विधान, उपमान योजना आदि सन्निहित होती है पर विज्ञान की अभिव्यक्ति इससे नितान्त भिन्न है। पौराणिक वृत्तों की सृष्टि का अर्थ जातीय जीवन में अध्यात्म का संकेत करना होता है। विज्ञान केवल मूलभूत वस्तुओं को लेकर उनकी व्याख्या करता है क्या और कैसे का उत्तर देता है, जब कि धर्म अथवा पौराणिकता मानव के अन्तस्तल का परिष्कार करके उसे देवी संकेत प्रदान करता है। इसी से विज्ञान की भाषा धार्मिक भाषा से भिन्न हो जाती है।

धर्म का आधार है विश्वास। अतः धर्म की भाषा भी अपने में एक बहुत बड़ा विश्वास लेकर चलती है। विश्वास की स्थिति में एक बड़ी निष्ठा आ जाती है। यह निश्चयात्मकता की वृत्ति एवं उल्लास की सृष्टि करती है जिससे गीत बनता है। धार्मिक अभिव्यक्तियों की गीतात्मक शैली का यही एक कारण है। विश्वास की भूमिका में जब हृदय सहज उल्लास का अनुभव करता है तो उसकी

वत्ति अभिनयात्मक हो जाती है और यह अभिनयात्मक भाषा के माध्यम से व्यक्त होने लगती है।

धम तत्व जसा शब्द से ही स्पष्ट है ईश्वर के सम्बध की चर्चा उपस्थित करता है और ईश्वर सम्बधी कोई भी बात गणनात्मक एव तार्किक रूप मे प्रस्तुत नही की जा सकती इसी से धम की भाषा म काव्यात्मकता होती है।

वज्ञानिक प्रकृति और मानव जीवन की जो याख्या करता है वह कवि की व्याख्या से भिन्न होती है। कवि और मानव प्रकृति दोनो के गहन अन्तराल म प्रवेश कर ऐसे स्वरूपों की उदभावना करता है जो वज्ञानिक की शक्ति के परे हैं और जब धम का वणन काय क रूप म होने लगता है अथवा या कह कि जब धम तत्व की उदभावना करता है तो वह वज्ञानिक एव कवि दानो स ही आग बढ जाता है। वसे साधारणत कवि और वज्ञानिक दोनों ही तथ्यो के निरूपण म प्रतीकों का प्रयोग करते हैं पर एक धार्मिक व्यक्ति अपने निरूपण में कुछ ऐसी बातें सामने लाता है जो वज्ञानिक एव कवि दोना ही की पकड से बाहर रह जाती हैं और वह उस बात को एक अनोखी भाषा एव विशिष्ट प्रतीको के माध्यम स प्रकट करता है। धम की भाषा कुछ ऐसी बात की अभिव्यक्ति करती है जो और किसी प्रकार की भाषा म सम्भव नही हो सकती। निश्चय ही धार्मिक व्यक्ति दवी शक्ति से सम्पन्न होकर एक दूसरे क मम को सहज ही समझ लेते हैं और इस रूप मे अपने को यक्त करते हैं जिससे सम्पक में आने वाले उनकी ओर सहज ही खिच जाते हैं।

आ—हिन्दी भाषा का विकास

कोई भी भाषा किसी एक दिन, एक मास और एक वर्ष क्या, दस-बीस वर्षों की भी कृति नहीं होती है। वह जन-जीवन से अनुप्राणित होती हुई शताब्दियों में अपना रूप निश्चित कर पाती है। भाषा विकास का यह क्रमिक रूप साधारणतः समझ में नहीं आता है। सामान्यतः लोगों का उस ओर ध्यान भी नहीं जाता है। भाषा के सुदूर अतीत और वर्तमान का तुलनात्मक अध्ययन ही उसकी प्रारम्भिक अवस्था और विकसित रूप के बीच का अन्तर स्पष्ट करता है।

भाषा विकास क्रम में स्थानीय प्रभाव विशेष महत्व रखते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि एक ही परिवार की भाषाओं में स्थान की दृष्टि से क्रमशः अन्तर पड़ता जाता है। यह अन्तर प्रारंभ में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ पेशावर से कलकत्ता तक यदि कोई व्यक्ति धीरे धीरे चले तो भाषा संबंधी विविध भेद संभव है, उसे प्रतीत ही न हों। पेशावर और उससे पाँच कोस इधर की भाषा लगभग समान रूप वाली है। लाहौर तक आते-आते कुछ अन्तर प्रतीत होने लगता है। यह अन्तर उस समय अधिक स्पष्ट होता है जब हम लाहौर के चतुर्दिक प्रसरित गाँवों की बोली को पेशावर के आसपास प्रचलित बोली से तुलना करते हैं। कुरुक्षेत्र के आसपास की बोली इससे और भी भिन्न है। परन्तु ये सब बोलियाँ आपस में एक दूसरे से इतनी संबद्ध हैं कि उनका अन्तर विशेषतः उच्चारण से ही जाना जा सकता है। पूर्व की ओर और भी आगे यदि हम बंग प्रदेश की यात्रा करें तो भी भाषा भेद बढ़ता तो जायगा, परन्तु अपनी शृंखला का परित्याग नहीं करेगा। इसका कारण पेशावर से कलकत्ते तक बोली जाने वाली बोलियों का एक परिवार से सम्बद्ध होना ही है, परन्तु कलकत्ते और पेशावर की बोलियों में कितना अन्तर है यह उस व्यक्ति के लिए विस्मयकारी ही होगा जो पेशावर से चल कर बीच में कहीं भी विराम न लेते हुए सीधे कलकत्ते के अंचल में प्रवेश करे।

स्थान और काल के अतिरिक्त भाषागत भेद आकृति पर भी अवलबित हैं। भाषा प्रथम व्यासरूप है या समासरूप इसका निर्णय भाषा वैज्ञानिक अद्यावधि नहीं कर सके। परन्तु जिन बोलियो का साहित्यिक रूप समाप्त हो जाता है उनके ग्रामीण एव शिष्टरूप म अन्तर आ जाता है। सस्कृत की जननी वैदिक भाषा है परन्तु वैदिक भाषा म जिस प्राकृत शब्दावलि क दर्शन होते हैं वह सस्कृत म नही है। प्रयोगो की जो बहुरूपता वैदिक भाषा मे है सस्कृत म उसका भी अभाव है। वैदिक भाषा जितनी प्रसरणशीला है सस्कृत उतनी ही नियम बद्ध। आकृति का यह अतर स्वय सस्कृत भाषा के विविधकालीन रूपो म भी दिखाई देता है। बाणकालीन सस्कृत उपनिषद के ऋषियो की सस्कृत से भिन्न है। एक मे आजव है तो दूसरी म चमत्कार एव ओज। सस्कृत की उत्तराधिकारिणी पाली और उसके पश्चात साहित्यिक पद पर समासीन हानेवाली प्राकृत एव अपभ्र श भाषाओ के रूपो म भी यही विरूपता दृष्टिगोचर होती है।

जिन अपभ्र श भाषाओ को हम आधुनिक भारतीय आय भाषाओ की जननी मानते हैं उनम परस्पर उतना भेद नही है जितना उनकी पुत्रियो म है। शौरसेनी और महाराष्ट्री अपभ्र श भाषायें एक दूसरे के अधिक निकट है। यह नकट्य मुगलकाल तक चला आया है। परन्तु आज ब्रज तथा मराठी के रूप वषम्य को देखकर कदाचित् कोई कह भी न सकेगा कि इनकी जननी इतनी समरूपा थी।

स्व० आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने बुद्धचरित की भूमिका म अपभ्र श म निहित ब्रज अवधी एव खडी बोली क जिन मूल बीजो की ओर सकेत किया है व वस्तुत महत्वपूर्ण हैं। उनमे हमे यह स्पष्ट सकेत प्राप्त होता है कि प्रारम्भ म बोलियो एक दूसरे के अत्यन्त निकट थी। सम्भव है यह प्रारम्भिक मञ्जाल का ही परिणाम हो, क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों जसी बहुलता न होने पर भी उन दिनो काश्मीर पचनद राजस्थान, महाराष्ट्र मध्यप्रदेश अग–वग एव कलिंग सब एक दूसर के सम्पर्क म आते थ और एक समान सस्कृति स शासित थे। वतमान युग विविधरूपा सस्कृतियो की घोषणा करता है यद्यपि इतिहास अपने अतीत म इसको कभी मान्यता नही देता।

प्रमाण के लिए यहाँ कतिपय उदाहरण दख लेना युक्ति सगत प्रतीत होता हैं। नीचे के उद्धत पद हेमचन्द्र कृत व्याकरण क है--

(१) जह् आसावरि देहा दिट्ठउ। सुस्थिर डाहररज्जा लिहउ।

(२) जइ यह रावण जाइयउ दहमुह इक्कु सरीर।
जणणि वियभी चितवइ कवणु पियावउ खीर॥

(३) उड्डा वियउ वराउ।

(४) जग दालिद्दिहि डुब्बिवऊ वलिबधणइ मुहिज्ज।

(५) राणा सव्वे वाणिया जेसलु बड्डउ सेठि ।

ऊपर के इन उद्धरणों में व्रजभाषा के रूपों के स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं—

अप्रभ्रंश रूप		व्रजभाषा रूप
दिन्हउ	—	दीनो
लिन्हउ	—	लीनो
जाइयउ	—	जायो
उड्डावियउ	(उडावियो)	उडायो
डुब्बिउ	—	डूब्यो
बड्डउ	(बड्डा)	बडो

नीचे कतिपय ऐसे उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनसे अवधी रूपों का संकेत प्राप्त होता है—

(१) दिन्न हत्थु नियगुण कडप्पह जगु ज्नपियो अवजसिण ।
(२) भुवण वसत पयठठ ।
(३) मह सग्गयस्स वि पिटिठ लग्ग ।

अप्रभ्रंश		अवधी भाषा-रूप
दिन्नु	—	दीन
पयटठ	(पठा)	पठ
लग्ग	(लगा)	लाग

यहाँ पर अप्रभ्रंश भाषा के कतिपय ऐसे पद उद्धृत कर रहे हैं जिनमें खड़ी बोली और पंजाबी भाषा रूप के संकेत प्राप्त होंगे —

(१) काह चलिअ हम्मीर बीर गअजुह संजुते ।
(२) गोल्ला मारिअ ढिल्लि मह मुच्छिम मच्छ सरीर ।
(३) कासीसर राणा कियउ पआणा बिज्जाहर भण मतिवर ।

अप्रभ्रंश	पंजाबी	खड़ी बोली
चलिअ	चल्या	चला
मारिअ	मारया	मारा
पआण	पयाण	प्रयाण

अप्रभ्रंश भाषा में बैसवाड़ी भाषा संकेत

१ विणास करु । गिरि हत्थ धरु ।

२ सोउ जुहिटिठर सकट पाआ। देवक लखिअ केण मिटाआ।

अपभ्रंश	बसवाडी
करु धरु	किया धरा (कर धर)
पाआ	पावा
मिटाआ	मिटावा

अपभ्रंश भाषा में भोजपुरी–मथली के संकेत

१ वित्तक पूरल मुदहरा। बरिसा समआ सुक्खकरा।
२ अहिललइ महि चलइ मुअल जिकि उटठए।
३ घर णहि पिअ सुणहि पहिअ मण इछल वहू।

ऊपर के उद्धरणा म पूरल मुअल तथा इछल शब्द स्पष्टत भोजपुरी भाषा का रूप व्यक्त करते हैं। य सब भाषा रूप विक्रम की ११वी १२वी शताब्दि क पूव के हैं। इससे स्पष्ट है कि जिसे हम हिन्दी भाषा कहते हैं उसकी मूल प्रकृति का प्रतिबिंब अपभ्रंश भाषा म परिलक्षित होता है। व्रज अवधी बसवाडी खडी बोली भोजपुरी आदि भाषा रूपो के जो सांकेतिक प्रयोग ऊपर व्यक्त किए गए है वे इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस युग की काव्य भाषा म किसी एक ही स्थान की भाषा का प्रयोग न होकर सामान्यत उस भाषा का प्रयोग हुआ है जो अधिकांशत समस्त उत्तरापथ म प्रचलित थी। इस प्रकार काव्य की एक सामान्य भाषा का रूप बन गया था जिसम विभिन्न प्रदेशो के अति प्रचलित शब्दा का प्रयाग प्राप्त होता है।

ऊपर के इस विवेचन स हम इस निष्कष पर पहुचते हैं कि प्रारम्भ से ही भाषा के दा रूप रहे हैं– एक साहित्यिक भाषा और दूसरा जन जीवन की भाषा। जन जीवन म व्यवहृत हान वाली भाषा की सज्ञा प्राकृत रही है। वदिक युग म जो प्राकृत भाषा थी उसका रूप गाथा म प्राप्त होता है। आर्यों ने प्राकृत भाषा को प्रादेशिक क्षत्रो स हटा कर उस सब जन-व्यवहारापयागी बनाने की दष्टि से सवारा और व्याकरणानुमादित रूप प्रदान किया। भाषा का यह संस्कृत रूप कालान्तर म सामान्य जन जीवन से दूर हान लगा। धार्मिक क्षत्र में महावीर स्वामी और भगवान गौतम बुद्ध क प्रवेश ने जन-सामान्य की भाषा (प्राकृत) को विशष बल प्रदान किया। प्राकृत भाषा का ही एक रूप पाली बना। भगवान बुद्ध ने जिस प्राकृत का अपनाया उसम उनकी प्रांतीयता का प्रभाव होने के कारण उसे मागधी (प्राकृत) कहा गया। बुद्ध के उपदेशों एव सिद्धान्तो का लेकर साहित्य का जो रूप जिस भाषा म लिपिबद्ध हुआ उसका नाम पाली हुआ। इस प्रकार पाली प्राकृत का ही एक विशिष्ट भद बन कर आई। उस काल म भिन्न भिन्न प्रान्ता म साहित्य सृजन का काय हो ही रहा था अत जसा कि पहल कह आय है दूरस्थ स्थानो की भाषा क

उच्चरित एवं लिखित रूप में भेद होना स्वाभाविक था। इस प्रकार जो भाषा-विभेद उत्पन्न हुआ, उससे मागधी, अर्द्ध मागधी, महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषा के रूप सामने आए।

इस समय तक प्राकृत भाषा में कई मोड़ आ चुके थे। भाषाशास्त्र के विद्वानों ने इन मोड़ों को पहली प्राकृत, दूसरी प्राकृत और तीसरी प्राकृत कह कर स्मरण किया है। तीसरी प्राकृत के अन्तर्गत उस अपभ्रंश भाषा को लिया गया है जो साहित्यिक प्राकृत के पश्चात जन जीवन के बीच बोलचाल की भाषा बनी।[१]

अपभ्रंश भाषा के साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेने तथा व्याकरण के नियमों से जकड़ जाने के पश्चात उसका स्वाभाविक प्रवाह एक दूसरे ही रूप में चलता रहा। यह रूप किन्हीं अंशों में मूल अपभ्रंश में मेल खाता है और किन्हीं अंशों में भारत की आधुनिक भाषाओं से मिलता है। ऊपर प्राकृत के जिन चार भेदों मागधी, अर्द्ध मागधी, महाराष्ट्री तथा शौरसेनी का उल्लेख किया गया है उनमें से प्रत्येक का अपभ्रंश रूप होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। यथा मागधी अपभ्रंश, अर्द्ध मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश और शौरसेनी अपभ्रंश। इन भाषाओं के रूप इस बात को प्रमाणित करते हैं कि भाषा उत्तरोत्तर गतिशील एवं विकासशील है। वैयाकरणों ने शौरसेनी अपभ्रंश के तीन रूप माने हैं — नागर, ब्राचड और उपनागर। विद्वानों का मत है कि इसी नागर (शौरसेनी) अपभ्रंश से हिन्दी की उत्पत्ति हुई। हम यह पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार हमारी प्रान्तीय अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के बीजरूप इसी अपभ्रंश में विद्यमान हैं। गुजराती तथा राजस्थानी का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से बिहारी, बंगाली, आसामी तथा उड़िया का सम्बन्ध मागधी अपभ्रंश से, पूर्वी हिन्दी का अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से और मराठी का सम्बन्ध महाराष्ट्री अपभ्रंश से माना जाता है। इसी प्रकार देश की अन्य बोलियों के सम्बन्ध में भी उनके मूल स्रोत की कल्पना की गई है। भाषा सम्बन्धी यह विवेचन सर जार्ज ग्रियर्सन तथा अन्य अंग्रेजी विद्वानों के आधार पर किया गया है। पर भारतीय विद्वानों का यह मत है कि भारतीय भाषाओं के मूल स्रोत का पता लगाने के लिए पश्चिमी विद्वानों का अनुकरण करना अधिक समीचीन नहीं है।

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है स्पष्ट है कि उसका रूप ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में बने अपभ्रंश के ग्रंथों में पाया जाता है। उसी से हिन्दी-काव्य के भावी स्वरूप का भी अनुमान लगाया जा सकता था। इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि अपभ्रंश हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं पाया जाता। चंद कवि कृत पृथ्वीराज रासो में जिसकी प्रमाणिकता के संबंध

१ डा० श्यामसुन्दर दास — हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १४।

मे विशेष ऊहापोह किया गया है सस्कृत के शब्द प्राप्त होते हैं। कालान्तर म यही हिन्दी व्रज अवधी भोजपुरी, बघली छत्तीसगढी खडी बोली तथा उर्दू के रूप म देश के विभिन्न भागो म पनपी और साहित्यिक रूप म समद्ध हुई।

हिन्दी शब्द की उत्पत्ति

इसके पूर्व कि हम हिन्दी की विभिन्न बोलियो और उनकी भाषागत विशेषताओ का सत साहित्य के सदभ म विश्लेषण करें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हिन्दी शब्द की उत्पत्ति के विषय म थोडा विचार कर लिया जाय। प्रारम्भ म हिन्दी शब्द भाषा वाची न होकर केवल स्थानवाची था। बौद्धकाल तक उत्तरी भारत का जम्बूद्वीप कहा जाता था। आज भी सकल्प पढते समय पडितगण जम्बूद्वीपे भरतखण्ड का प्रयोग करते है। फारस क निवासी सिन्धु नदी के तटीय प्रदेश का हिन्द कहा करत थे। इसी स हिन्द प्रदेश का रहने वाला 'हिन्दू कहा जाने लगा। इसी हिन्द से हिन्दी बना जिसका अथ हुआ हिन्द प्रदश का निवासी। इस प्रकार से भाषा म बहुत शब्द बनते है यथा पजाब स पजाबी, सिन्ध स सिन्धी गुजरात से गुजराती आदि। अमीर खसरो के समय (सवत १३४०–१३८१) म हिन्दी शब्द का प्रयोग भारतीय मुसलमाना के लिए ही होता था। उसने हिन्दू तथा हिन्दी दोनो ही शब्दो का व्यवहार भिन्न भिन्न अर्थो म किया है। उदाहरणार्थ–

'बादशाह ने हिन्दुओं को तो हाथी से कुचलवा डाला किन्तु मुसलमान जो हिन्दी थे सुरक्षित रहे।[1]

इस उद्धरण द्वारा स्पष्ट है कि भारततर देशो के मुसलमान भारतीय मुसलमाना को प्रारम्भ म हिन्दी नाम से ही जानते थे। कालान्तर म उनकी भाषा को भी हिन्दी की सज्ञा प्राप्त हुई। इस भाषा का प्रयोग हिन्दू तथा मसलमान दोना ही सम्प्रदाया म हाता था।

साधारणत हिन्दी शब्द स अभिप्राय है हिन्द देश की भाषा जिसम भारत म बाली जान वाली समस्त भाषाए सम्मिलित हो सकती हैं। प्रारम्भ मे हिन्दी के लिए

(1) whatever live Hindu fell into the king s hands was pounded into bits under the feet of elephants The Musalmans who were Hindis (Country born) had their lives spared
—Amirkhosru in Elliot III 539

Hobson–Jobson Page 315

हिन्दुई, हिन्दवी हिन्दवी दक्खिनी दखनी या दकनी हिन्दुस्थानी हिन्दस्तानी खड़ी बोली रेख्ता, रेख्ती उर्दू आदि का प्रयोग किया गया था किन्तु बाद मे भेद परक प्रयोगो की दृष्टि स हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी ये तीन नाम ही अधिक प्रचलित हुए।

जिस प्रकार किसी पवत से निकली हुई जल की एक क्षीण धार मदान तक आते-आते न जाने कितनी अन्य धाराओ की जल राशि को अपने म समाहित कर लेती है और तब उसका विस्तार अत्यधिक बढ जाता है उसी प्रकार प्रत्येक विकसन शीला भाषा आसपास के भाषा-बोली सम्बन्धी प्रभावों को आत्मसात करती हुई गतिमान होती है। इस दृष्टि स हिन्दी के लिए यह कहना बडा कठिन है कि किसी एक अपभ्रश (शौरसनी) का ही इस पर प्रभाव है। हिन्दी के वतमान रूप तक आते-आते इस न जान कितन मोड लने पडे हैं। न जाने कितनी उपत्यकाओ ऊची नीची भूमिया मरुस्थलो हरे भरे प्रदेशो मे परिभ्रमण करती हुई हिन्दी की यह धारा आज अपने इस रूप को प्राप्त कर सकी है। उसका यह रूप उसकी श्री-सम्पन्नता का द्योतक है और अपन म विभिन्न कारणो के प्रभावो को सजोए हुए है। इस सम्बन्ध में डा० विश्वनाथ प्रसाद का यह मत द्रष्टव्य है— हिन्दी म निश्चित रूप से किसी एक ही प्राकृत या अपभ्रश के रूप और लक्षण न मिलने के कारण उसे उनम से किसी एक से ही व्युत्पन्न मानना युक्तिसगत नही प्रतीत होता। यूरोप की 'रोमास कुल की भाषाओ के समान हिन्दी वस्तुत सक्रमण की प्रणाली से विकसित हुई है व्युत्क्रमण की प्रणाली स नही। उद्योतन सूरि की कुवलयमाला के अनुसार दवी ९वीं शताब्दी मे कम स कम सोलह प्रादेशिक भाषाएँ या बोलियाँ व्यवहृत थी। उत्तर म पजाब और पूव म विहार-बगाल के बीच की भाषायें और बोलिया बोल चाल क रूप म अपनी-अपनी स्थानीय विशषताओ क बावजूद भी शन शन एक समान आदश की ओर उन्मख होती जा रही थी। ८वी स १२वी शताब्दी क अपभ्रश ग्रथो स यह स्पष्ट है कि इसी प्रवत्ति क कारण,उस समय की साहित्यिक भाषा का बहुत कुछ अशो म आदर्शीकरण हो चुका था और लिखित रूप म उनके स्थानीय भेदो मे बहुत अधिक अन्तर नही रह गया था। साहित्यिक व्यवहार के लिए एक समान भाषा के रूप म हिन्दी का आविर्भाव उस समय क अपभ्रश ग्रथों म स्पष्टत परिलक्षित होता है। सक्रमण की इस प्रणाली से हिन्दी भाषा के तथा उसके साहित्य के उदय और विकास के सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हम मिलते हैं सिद्ध कवियों की कृतिया म।[1]

हिन्दी शब्द समूह

प्रत्येक सजीव भाषा पर सस्कृति एव सभ्यता के परम्परागत रूपों का प्रभाव

१ हिन्दी अनुशीलन धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक पष्ठ २८५।

पडता रहता है । व्यापारिक उद्देश्य अथवा अन्य कार्यों से एक स्थान से दूसरे स्थान मे आवागमन भी भाषा के रूप विकास मे महत्वपूर्ण योगदान करता है । साथ ही भौगोलिक परिस्थितियाँ भी शब्दो के रूप-विन्यास मे अपना कार्य करती रहती हैं । किसी भी भाषा के विवेचन मे यह भी दृष्टव्य है कि उस भाषा के प्रारभिक शब्द किस प्रकार बने किस प्रकार उनमे परिवर्तन हुए किस प्रकार उनके रूप घिसे, और किस प्रकार सवर्द्धित हुए ।

हिन्दी भाषा के वर्तमान रूप मे कितनी ही धार्मिक सम्प्रदाय जनित सस्कृतियाँ समाई हुई है । राजनीतिक प्रभावो से प्रभावित रूप भी इसमे देखे जा सकते हैं । सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अपभ्रश काल से आरभ होने वाली हिन्दी भाषा के विकास मे अनेक सम्मिलित प्रभाव कार्य कर रहे है । इसमे बहुत से शब्द विशुद्ध सस्कृत भाषा के है जो तत्सम शब्दो के रूप मे जाने जाते हैं । हिन्दी मे ऐसे शब्दो का भी प्रयोग-बाहुल्य है जिसे हम अर्द्ध-तत्सम कह सकते है । अर्द्ध तत्सम से हमारा तात्पर्य उन शब्दो से है जो मूलत सस्कृत के शब्द है पर प्राकृत भाषा के शब्दो के साथ प्रयुक्त होने के कारण अपने को प्राकृत प्रभाव से बचा नही पाये हैं । हिन्दी मे ऐसे शब्दो का भी बाहुल्य है जिन्हे हम तदभव कहते हैं । तदभव शब्द वे हैं जो सस्कृत के शब्दो से बिगड कर उससे भिन्न अपना रूप रखते हैं ।

हिन्दी मे एक बहुत बडी सख्या मे ऐसे भी शब्द पाए जाते हैं जिन्हे हम देशज कहते है । सस्कृत अथवा प्राकृत शब्दो की व्युत्पत्ति दी जा सकती है उनके सम्बन्ध मे यह जाना जा सकता है कि वे किस धातु और किस प्रत्यय के योग से बने किन्तु जब किसी शब्द की वयाकरणिक उत्पत्ति और उसका उत्पत्ति मूलक अर्थ न दिया जा सके तब उस शब्द की सज्ञा होगी देशज । यथा पेट गोड आदि ।

भारतवर्ष सुदीर्घ काल तक मुसलमानो के शासन में रहा है । हिन्दू जिनकी भाषा हिन्दी कही जाती थी अधिकाशत जीविकोपार्जन की दृष्टि से अरबी फारसी पढते थे । इसलिए शासन के प्रभाव के कारण हिन्दी में उर्दू-फारसी के शब्द एक बहुत बडी सख्या में प्रयुक्त हुए । सहर सर दो नो पयमाल मेवा जो साया, (छाया) तथा जामा बगलबन्दी पायजामा रूमाल तकिया बिस्तर मिसरी शकर पायजेब बाजूबन्द किसमिस पिस्ता बादाम अनार जलेबी अचार तस्तरी चमचा इत्यादि कितने ही फारसी के शब्द हिन्दी भाषा में पाए जाते हैं । इसी प्रकार हलाल मालिक लहू वारिस तरीका हरकत आब ख्वार सुल्तान इत्यादि अरबी के शब्द तथा गलीचा चाकू तमगा दरोगा बहादुर लाश बेगम कची सौगात इत्यादि कितने ही तुर्की शब्द भी हिन्दी में प्रयुक्त होते रहते है । अग्रेजो के शासन के प्रभाव के कारण अगस्त अप्रल अस्पताल अपील अफसर इस्पेक्टर इजीनियर इनकम-टक्स स्कूल, एजेन्ट ऐजेन्सी कांग्रेस गिलास गेट गार्ड टीन तारकाल टोटल

ड्यूटी, दजन, नम्बर पलटन पम्प, पचर, लालटेन, बटन बकस, लट्टी समन, सतरी राशन, बैंक आदि कितने ही अंग्रेजी शब्द हिन्दी में बहुलता से प्रचलन प्राप्त किये हुए हैं। हिन्दी में पुर्तगाली शब्दों का भी अभाव नहीं है, यथा अलमारी, आलपीन, कमीज, कमरा, गमला गारद, गोदाम, तम्बाकू तौलिया परात पिस्तौल, पीपा, फीता मेज बाल्टी आदि।

भारत अपनी विशालता के कारण अनेक प्रदेशों में विभक्त है। प्राय, प्रत्येक प्रदेश अपनी भाषागत विशेषता भी रखता है। हिन्दी अपनी सहज उदारता के कारण विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों का स्वीकार करके गतिमान है। हड़ताल (गुजराती) चौथ, पटेल देशमुख, (मराठी) गमछा, रसगुल्ला कविराज (बंगला) हाडी (कालभाषा) लुंगी (तिब्बती बर्मी) आदि शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। यह एक ऐसी भाषा है जिसमें दूसरी भाषा के शब्दों को आत्मसात कर लेने की पूर्ण क्षमता है। संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग इस भाषा की विशेषता है।

उर्दू

उर्दू हिन्दी का ही एक दूसरा रूप है। इसका प्रयोग उत्तर भारत के प्राय समस्त शिक्षित मुसलमान तथा वे व्यक्ति जो मुसलमानों के सम्पर्क में रहे हैं यथा पंजाबी और काश्मीरी आदि करते हैं। प्रारम्भ में उर्दू शब्द का अर्थ शाही पड़ाव लिया जाता था। उसका प्रयोग किला के अर्थ में भी हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उर्दू शब्द भारतवर्ष में बाबर के समय में आया और तभी से दिल्ली का राजभवन "उर्दू ए मुअल्ला के नाम से जाना जाने लगा। उर्दू-ए-मुअल्ला का अर्थ होता है महान शिविर। इस दरबार में जिस मिश्रित भाषा का प्रयोग होता था उसे 'जबाने उर्दू' कहा जाता था। कालान्तर में केवल उर्दू शब्द रह गया।[1]

उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वर्गीय चन्द्रबली पाण्डेय ने 'उर्दू के रहस्य' 'उर्दू का उदगम' और 'उर्दू की जबान' आदि पुस्तकों में विशेष रूप से विचार किया है। उन्होंने इस विषय में अपनी पुस्तक 'भाषा का प्रश्न' में दरिया ताफत का एक

---

1 The word Urdu in the sense of royal camp came in to India probably with Babar and the royal residence at Delhi was styled Urdu i Mualla the sublime camp The mixed language which grew up in the court and camp was called Zaban i urdu The camp language and hence behave eliptically urdu

—Hobson Jobson Page 488

महत्वपूर्ण उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया है कि – 'शाहजहानबाद मे खुशबयान लोगो ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओ से दिलचस्प शब्दो को जुदा किया और कुछ शब्दो तथा वाक्यो मे हेर फेर करके दूसरी भाषाओ से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया।

व्याकरणिक रूपो के विचार से हिन्दी और उर्दू मे अधिकाशत साम्य प्रतीत होता है। हिन्दी भाषा मे भारतीय सस्कृति और सभ्यता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु उर्दू की यह विशेषता है कि यद्यपि वह भारत मे उत्पन्न हुई पर उसे प्रेरणा ईरान और अरब से प्राप्त होती है। बाहर से आने वाले इस्लाम धर्माव-लम्बियो ने भारतीय लोगो से भावो का आदान प्रदान करने के लिए यह आवश्यक समझा कि यहाँ की भाषा को सीखा जाय। अस्तु केन्द्र स्थान दिल्ली तथा उसके आसपास की भाषाओ को (लिपि को नही) उन्होंने सीखा और उसका व्यवहार करना भी प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयास मे वे अपनी मूल भाषा के शब्दो का समग्रत हटा न सके और कदाचित ऐसा सम्भव भी न था। उनके द्वारा उनकी अपनी ही लिपि मे भाषा का जो मिलाजुला रूप बना वही उर्दू के नाम से जाना गया। प्रारम्भ मे यह उर्दू भाषा उत्तरी भारत के पढ लिखे मुसलमानो की भाषा बनी और धीरे-धीरे शासकीय प्रभाव के कारण इस भाषा का जन जीवन मे भी प्रवेश हो गया। उर्दू के सबध मे एक मत तो यह है कि उस पर दिल्ली की खडी बोली का प्रभाव अधिक है। दूसरा मत यह है कि दिल्ली मे आने पर मुसलमान शासक इसे अपने साथ ही लाये थे। खडी बोली के प्रभाव से इसमे बाद मे कुछ परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु इसका मूलाधार पजाबी को मानना चाहिए खडी बोली को नही। इस सबध मे अग्रज विद्वान ग्राहमवेली महोदय का सब से बडा तर्क यह है कि दिल्ली को शासन केन्द्र बनाने के पूर्व एक हजार से बारह सौ ईस्वी (लगभग दो सौ वर्ष) तक मुसलमान पजाब मे रहे। उस समय वहा की जनता से सपर्क मे आने के लिए उन्होंने कोई न कोई भाषा अवश्य सीखी होगी और वह भाषा तत्कालीन पजाबी ही हो सकती है।[1]

यहाँ पर उर्दू के प्रश्न को लेकर हमे नही उलझना है और यह प्रश्न इस स्थल पर अप्रासगिक भी होगा। हा इतना जान लेना आवश्यक है कि उर्दू का व्याकरण अरबी-साँचे पर ढला है। यद्यपि भाषा के प्रमुख आधार क्रियापद सर्वनाम एव कारक चिह्न सब के सब हिन्दी के ही हैं। उर्दू भाषा जो उत्तर भारत मे हिन्दी तथा रेख्ता नाम से जानी जाती थी दक्षिण प्रदेश मे जाकर दक्षिणी (दक्खिनी) नाम से प्रचलित हुई। यहाँ पर हिन्दी का किंचितमात्र भी प्रचार न होने के कारण इसमे

१ धीरेन्द्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास पृष्ठ ६२।

फारसी के शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ। उर्दू लेखकों ने भारत की सुरम्य वसुन्धरा में रहते हुए भी प्रेरणा फारसी साहित्य से ही ली। उनकी उपमान-योजना समग्रत फारसी शैली पर ही सगठित हुई। उर्दू साहित्य के लेखकों ने उत्तरोत्तर हिन्दी शब्दों एव मुहावरों का सप्रयास बहिष्कार करना प्रारम्भ कर दिया। फलत समस्त पारिभाषिक शब्दावली अरबी की आ गई। भाषा संस्कृति की पोषिका होती है। भारत भूमि में ही जब इस प्रकार हिन्दी-सस्कृत से घृणा और अरबी फारसी से अत्यधिक प्रेम बढ़ा तब हिन्दी और उर्दू की गति दो विभिन्न दिशाओं की ओर हो जाना स्वाभाविक था। इस भाषा-विभेद ने सम्प्रदायगत कट्टरता को विशेष प्रश्रय दिया। संत-साहित्य में इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं।

हिन्दुस्तानी

उर्दू भाषा की ही भाँति हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार किया है। हिन्दुस्तानी शब्द को बाबरकालीन बताया जाता है और इसकी पुष्टि में उसके जीवन-सम्बन्धी संस्मरणों का उल्लेख किया जाता है जिसमें उसने दौलतखाँ लोदी से बात करते समय हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया था।[1]

सन १६१६ में श्री टाम कोरियट ने हिन्दुस्तानी को गवारी भाषा के रूप में स्मरण किया है।[2] सन १८८६ में हिन्दुस्तानी के सबध में यह मत प्रकट किया गया कि यह उत्तरी एव दक्षिणी भारत के मुसलमानों की भाषा है। आगरा एव दिल्ली के समीपवर्ती स्थानों में बोली जाने वाली हिन्दी फारसी तथा अन्य विदेशी शब्दों के योग से इसका विकास हुआ है। इस भाषा का दूसरा नाम उर्दू भी है। मुसलमानी राज्य में यह भाषा अन्तप्रान्तीय भाषा के रूप में व्यवहृत होती थी।[3]

---

1 I have made him sit down before me and desired a man who understood the Hindustani language to explain to him what I said sentence by sentence in order to reassure him
—Memoirs of Babar Lucas kings edition, Vol 2 PP 170

2 Hobson Jobson Page 317

3 But in fact the language of Mohammedans of Upper India and eventually of the Mohammedans of the deccans developed out of the Hindi dialect of the Doab chiefly and of the territory round Agra and Delhi with a mixture of Persian Vocables and [illegible]

language was for a long time a kind of Mohammedan lingua franca over all India (Hobson Jobson PP 317)

ग्रियसन का मत है कि योरुपीय प्रभाव के कारण हिन्दुस्तानी शब्द का निर्माण हुआ था।[1] उसका यह भी कथन है कि वे लोग हिन्दुस्तान की भाषा को ही हिन्दुस्तानी मानते थे। इतना ही नहीं ग्रियसन महाशय हिन्दी को हिन्दुस्तानी शैली विशेष के रूप में मानते हैं। उनका यह भी कथन है कि हिन्दुस्तानी का प्राचीन तम स्वरूप उर्दू या रेख्ता में उपलब्ध होता है। उन्होंने हिन्दुस्तानी की व्याख्या करते हुए लिखा है कि हिन्दुस्तानी भाषा गंगा के ऊपरी दोआब की भाषा है। लिपि की दृष्टि से फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में इसका प्रयोग हो सकता है। वे उर्दू को हिन्दुस्तानी की ही एक ऐसी शैली मानते हैं जिसमें फारसी शब्दों की प्रचुरता रहती है और इसके लिए केवल फारसी लिपि का ही प्रयोग होता है। इसी आधार पर वे हिन्दी को हिन्दुस्तानी की एक ऐसी शैली मात्र मानते हैं जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और जिसमें संस्कृत शब्दों का बहुत बड़ी संख्या में प्रयोग होता है।[2] डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू के समान ही इसका आधार भी खड़ी बोली है। एक तरह से यह हिन्दी उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है क्योंकि यह फारसी संस्कृति के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत मुक्त है।[3] स्वर्गीय चन्द्रबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'कावेब आफ हिन्दुस्तानी' में हिन्दुस्तानी भाषा के विकास और उसके मूलभूत कारणों पर गंभीरतापूर्वक विवेचन किया है। उनका स्पष्ट मत है कि हिन्दुस्तानी का अर्थ है उर्दू।[4] अपने मत के समर्थन में वे उड़ीसा के भूतपूर्व गवर्नर आसफअली का यह मत उद्धृत करते हैं कि उर्दू हिन्दी नहीं है हिन्दुस्तानी शब्द सरल उर्दू के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होता है।[5]

हिन्दुस्तानी शब्द हिन्दुस्तान की भाषा के लिए भले ही प्रारम्भ में प्रयुक्त हुआ हो पर राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उन्नीसवीं शताब्दी तक आते आते

---

1 The word Hindustani was coined under European influence and means the language of Hindustan
—Linguistic Survey Vol IX Part I P 43

2 Linguistic survey of India Vol IX Part 1 Page 47

३ धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का विकास पृ० ६३।

4 Indeed the general use of the term Hindustani is synonym for Urdu and a part from philology it has always used for it
— Cobweb of Hindustani Page 5

5 It is sufficient for our purpose to know that Urdu is not Hindi and the word Hindustani is being used now a-days only synonym for simplified Urdu
—National language for India Page 159

यह शब्द उर्दू के समकक्ष माने जाने लगा। भाषा क्षेत्र मे राजनतिक उद्देश्य भी प्रवेश पा गये। हिन्दू और मुसल्मानो को निरन्तर अलग बनाये रखने की भावना से भी कदाचित् हिन्दुस्तानी उर्दू का विशेप प्रश्रय दिया गया। भारतीय राष्टीय कॉंग्रस ने भी महात्मा गांधी के नेतत्व म साम्प्रदायिक विद्वेप को दूर करने के उद्देश्य से हिन्दुस्तानी भाषा का एक ऐसा रूप सामन रखना चाहा जो हिन्दुओ और मुसलमानो दानो का समान रूप से स्वीकार हा सके। हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर दश क राजनतिक वातावरण म बहुत समय तक भाषा-आन्दोलन चलता रहा। दोना ओर से पक्ष विपक्ष म अनेकानेक सबल प्रमाण एव तर्क उपस्थित किए गए पर भाषा के स्वरूप का निणय अथवा उसका प्रसार प्रस्तावो तर्कों आदि स नही हाता है। भाषा की प्रकृति अपनी पूण स्वतत्र प्रकृति होती है। इतने वर्षो पश्चात आज यह स्पष्ट हा गया है कि हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनो अलग-अलग हैं, यद्यपि उर्दू और हिन्दुस्तानी मे बहुत कुछ साम्य है। हिन्दुस्तानी एक प्रकार स भाषा क्षेत्र म एक राजनीतिक आंदालन ही था जो अब प्राय समाप्त सा है।

४

सत-साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली

प्रतीकात्मक शब्द

मानव अपनी अनुभूतियो की अधिकाधिक विशद अभि यक्ति चाहता है कि तु जब ईप्सित भाव सीध सादे ढग से सम्यकरूपेण नही व्यक्त हो पाता है तब वह प्रतीको का सहारा लेता है। प्रतीक का शाब्दिक अथ है चिह्न । साहित्य म अधिकाश प्रतीक दृश्य जगत स ही सम्बधित होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रकृति क विभिन्न उपादानो एव स्वरूपो के साथ नैर यक परिचय क कारण हमारा रागात्मक सम्बध स्थापित हो जाता है। यह सम्बध जब तक हृदयस्थ रहता है तब तक इसकी अमूर्तावस्था रहती है कि तु जब हम प्रकृति क पदार्थों का प्रयोग अपनी भावाभिव्यक्ति क साथ करत है तब उस रागात्मक सम्बध का भाना मूर्तीकरण हो जाता है। यथा सुमना का सौरभ दान देख कर हमार हृदय म एक प्रकार का विशिष्ट आनन्दोल्लास उत्पन्न होता है। सस्कारवशात इस क्रिया के प्रति हमारा हृदयस्थ राग त मयत्व प्राप्त कर लेता है। यह त मयता उस समय और भी अधिक सजग हो उठती है जब हम किसी उदार वत्ति का चित्रण करते हैं और उदारता त्याग आदि सद्वृत्तिया का प्रभावोत्पादक चित्रण करन के लिए सुरभि-दान म लीन सुमनो को प्रतीक रूप म उपस्थित करत हैं। गूढातिगूढ भावों की यजना प्रतीक क माध्यम से सहज और सुस्पष्ट हो जाती है।

जब हम प्रम घणा क्रोध आदि मनोभावात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं अथवा सुख-दुख कष्ट पीडा आदि का अनुभवात्मक विवरण देत हैं तब हम केवल अपनी मनोदशा का सकेतात्मक परिचय दे पात हैं। मनुष्य की वखरी वाणी केवल वखरी है भौतिक होने के कारण सीमित सामर्थ्यवाली है। अतएव उसम सम्पूण अनुभूति को व्यक्त करन की शक्ति न कभी थी और न आज है। हमारी क्रोध की भावना स्वामी मित्र स्त्री पुत्र और शत्रु सभी के प्रति यथावसर व्यक्त होती है



पर सबके प्रति समान कार्य नहीं होता है। वाणी में इतनी क्षमता नहीं है कि वह क्रोध के इस अन्तर को व्यक्त कर सके। स्वयं स्त्री और पुत्र सम्बन्धी घृणा में कितना अन्तर हो सकता है उसका शतांश भाग भी घृणा शब्द से व्यक्त नहीं हो पाता है। भोजन के कष्ट, निवास के कष्ट और वस्त्र के कष्ट में अन्तर स्पष्ट है। परन्तु केवल कष्ट शब्द द्वारा इन तीनों के कष्ट का यथार्थ बोध नहीं हो सकता है। वाणी की इसी असमर्थता के कारण अनादिकाल से विशेष अनुभूति को अधिक स्पष्ट करने के लिए तत्सदृश अनुभूतियों का स्पष्ट वर्णन करने का प्रयास चली आ रही है। यो॰स्मान् द्वेष्टि वयद्विष्मस्त वा जम्भे दध्म जिसके साथ हम द्वेष करें या जो हमारे साथ द्वेष करे उसको हम दांतों में रखते हैं। जम्भ दध्म शब्द उस भाव का परिचायक है जिसमें अपने द्वेष्टा को इस प्रकार चबा जाने की भावना उदित होती है जिस प्रकार मुंह में रख कर कौर चबा डाला जाता है। किसी शरीर को इस प्रकार चबाया नहीं जा सकता। उसकी गर्दन काट दी जा सकती है बोटी-बोटी अलग की जा सकती है, परन्तु इतना कहने पर भी क्रोध की वह तीक्ष्णता व्यक्त न होती जो 'चबा जाना' कहने से व्यक्त होती है। इसी प्रकार एक दूसरा प्रयोग लीजिए पत्थर पसीजना। इस कथन से तात्पर्य किसी शिलाखण्ड के पानी पानी होने से नहीं है। पत्थर का तात्पर्य कठोर हृदय और पसीजना का तात्पर्य द्रवित होना है। वक्ता का मुख्य उद्देश्य होता है विषय का बोध कराना। इसके लिए वह अप्रस्तुत योजना अथवा अन्योक्ति-विधान का सहारा लेता है। दृष्टिपथ में विचरण करने वाले रूप चित्रों का काम तो इस प्रकार चल जाता है पर जिनकी विशुद्ध भावात्मक सत्ता होती है उनकी अनुभूति कराना एक बड़ी जटिल समस्या होती है। ऐसी स्थिति में सांकेतिकता का ही आश्रय लेना पड़ता है। संकेतरूप में उपस्थित की गई वस्तु के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि वह मूल भाव से साम्य स्थापित कर और साथ ही लोक जीवन में भी सम्बद्ध हो। इस प्रकार सांकेतिक स्वरूप मूल रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रतीक विधान के लिए यह आवश्यक है कि जो भी प्रतीक प्रयुक्त हों वे देश कालानुरूप हों। शब्दों का अपना स्वतंत्र जीवन होता है। उनकी श्वास प्रश्वास में कभी तो इतनी क्षमता आ जाती है कि वे सहस्रों वर्ष पर्यन्त भी अपनी शक्ति नहीं क्षीण होने देते और सतत कार्यशील बने रहते हैं। पर कतिपय शब्द कुछ समय तक चल कर इतिहास की सम्पत्ति बन जाते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो काल के आवर्तों को विदीर्ण करके पुनः अपना वैभव प्रदर्शित करने लगते हैं। इसीलिए प्रतीक रूप में आए हुए शब्दों का भाषा के प्रचलितरूप के अनुरूप होने से अर्थ बोध कराने में सरलता होती है। प्रतीकात्मक शब्दों के अपने अपने स्वतन्त्र अर्थ भी होते हैं। एक ही प्रतीक भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न अर्थ व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ भारत में धूप जीवन-व्यापी कष्ट अथवा पीड़ा का प्रतीक है। शीत प्रधान देशों में यही धूप सुख

और उल्लास प्रतीक है। भौगोलिक परिस्थितियाँ ही इस अथ ग्रहण से लिए उत्तरदायी हैं।

साधारणत प्रतीको की एक परम्परा होती है जिनके द्वारा भावाभियक्ति म एक स्वाभाविक गुण आ जाता है। उदाहरणाथ उषा सुख और सध्या दुख के प्रतीक रूप म सुदीर्घकाल से प्रयुक्त होती आ रही है। भारतीय साहित्य म ही नही, अपितु दूसरी भाषाओ के साहित्य मे भी ये दोनो ही उषा और सध्या जीवन सबधी तथ्यो का निदशन कराने के लिए प्रयुक्त हुए है।

देशगत एव परपरानुगत प्रतीको क अतिरिक्त युगगत प्रतीक भी होते हैं। छायावाद रहस्यवाद से प्रभावित काव्यधारा क अ तगत मधुमास और पतझड का प्रयाग क्रमश सुख और दुख के लिए होता है। कतिपय प्रतीक व्यक्ति की रुचि विशेष का परिचय कराने वाले होते हैं। कवि परम्परा म टूटने या नष्ट होने के लिए मोम का पिघलना पखडी का झडना शीश का टूक टूक हाना प्रयुक्त होता था किन्तु अब प्रगतिवादियो न प्रवृत्ति विशेष का परिचय कराने के लिए भने हुए पापड का टूटना [1] उपयुक्त समझा। वयक्तिकता की दष्टि से साहित्य—जगत में कबीर की प्रतीक योजना विशष महत्व रखती है। इसका विवेचन हम इसी प्रसग म आगे करेंगे।

साहित्य मे प्रतीक विधान की एक सामान्य परम्परा सुदूर अतीतकाल से चली आ रही है। ऊपर हम वेद का उदाहरण दे आए हैं। उपनिषदा म अनेक गाथायें पूणत प्रतीक पर आश्रित हैं। योग-वासिष्ठ से समस्त उपाख्यान प्रतीकात्मक हैं। श्रीमदभागवत का भक्ति सम्बधी आख्यान विशुद्ध रूप से प्रतीकात्मक ही है। वज्रयान सम्प्रदाय की साधनापद्धति की अधिकाश अभियक्तियाँ प्रतीको के माध्यम स हुई हैं। अन्यत्र भी धर्मोपदेश के लिए लिखे गए आख्यान प्रतीकात्मक हो हैं। सूफी साधको ने भी अपनी अध्यात्मपरक अभिव्यक्तिया म प्रतीको का आश्रय लिया है। उदाहरणाथ—

नवौ खड नव पौरो औ तह वज्र किवार।
चारि बसेरे सों चढ सत सों उतरे पार॥

—'जायसी'।

ये चार बसेरे सूफी सम्प्रदाय के अन्तगत चार पडाव हैं[2]—

---

१ मरे सपने टूट गए जसे भुना हुआ पापड

२ इन चार पडावो के सम्बध म साधना की दष्टि से विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से नामकरण किए हैं। कहीं-कहीं पर इनम क्रम विपरीतता भी है—

१–शरीअत २–तरीकत, ३–मारिफत ४–हकीकत।

भारत में ही नहीं अपितु अन्याय देशों में भी प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस और बेलजियम में तो उन्नीसवीं शताब्दि में यथार्थवाद के प्रति विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार हुआ और प्रतीक विधान को साहित्य एवं संगीत में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।[1] सन् १८८६ में फिगारो नामक पत्र में प्रतीकवाद एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में स्वीकृत हुआ। इस सम्प्रदाय के लेखक प्रतीकों द्वारा अपनी विभिन्न मानसिक स्थितियों को व्यक्त किया करते थे। उस समय प्रतीकवाद का आन्दोलन चित्रकला और संगीत में प्रभाववाद के साथ साथ और उपचेतन के दर्शन के साथ-साथ उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम भाग के आदर्शवाद से मिल कर उस 'रोमान्टिसिज्म' की एक शाखा बन गया जिसके साथ वह निवार्य रूप से सबद्ध है।[2] आगे चल कर प्रतीकवादी दो दलों में विभक्त हो गये। एक ने बर्लें का अनुगमन किया और दूसरे ने मलार्मे का। बर्लें के अनुयायियों ने प्रतीक विधान में दूसरे दल की अपेक्षा सांकेतिक अर्थ की सरलता एवं स्पष्टता का विचार अधिक किया है।

देश-विदेश की बात तो दूर रही। जीवन के सामान्य व्यवहारों में भी प्रतीकात्मकता के महत्व को देखा जा सकता है। साधारणतः हम अपने घर को सजा कर रखते हैं। पर जब हम किसी अतिथि के आने पर अपने घर के कोन-कोने को साफ

(अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— १–शरीअत — कर्मकाड,
२–तरीकत — उपासनाकाड,
३–हकीकत — ज्ञानकांड
४–मारिफत— सिद्धावस्था।

(ब) आचार्य चन्द्रबली पाँडेय— १–शरीअत — कर्मकाड,
२–तरीकत — उपासनाकाड
३–मारिफत— ज्ञानकाड,
४–हकीकत — ज्ञाननिष्ठ।

(स) आचार्य मुन्शीराम शर्मा— १–शरीअत — ज्ञानकांड
२–तरीकत — कर्मकाड
३–मारिफत— उपासनाकाड,
४–हकीक — तथ्यप्राप्ति।

१ वार-ए डिक्शनरी आफ इगलिश लिटरेचर, पृष्ठ—२१६।
२ सीताराम चतुर्वेदी—समीक्षाशास्त्र पृष्ठ—१२७३।

और उल्लास प्रतीक है। भौगोलिक परिस्थितियाँ ही इस अर्थ ग्रहण से लिए उत्तरदायी हैं।

साधारणत प्रतीकों की एक परम्परा होती है जिनके द्वारा भावाभिव्यक्ति म एक स्वाभाविक गुण आ जाता है। उदाहरणार्थ उषा सुख और संध्या दुख के प्रतीक रूप म सुदीर्घकाल से प्रयुक्त होती आ रही है। भारतीय साहित्य म ही नहीं, अपितु दूसरी भाषाओं के साहित्य म भी ये दोनों ही उषा और स या जीवन-सब धी तथ्यों का दिग्दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

देशगत एव परपरानुगत प्रतीकों के अतिरिक्त युगगत प्रतीक भी होते हैं। छायावाद रहस्यवाद से प्रभावित का यधारा के अन्तगत मधुमास और पतझड का प्रयोग क्रमश सुख और दुख के लिए होना है। कतिपय प्रतीक व्यक्ति की रुचि विशेष का परिचय कराने वाले होते हैं। कवि परम्परा म टूटने या नष्ट होने के लिए मोम का पिघलना पखडी का झडना शीशे का टूक टूक होना प्रयुक्त होता था किन्तु अब प्रगतिवादियों ने प्रवृत्ति विशेष का परिचय कराने के लिए भुने हुए पापड का टूटना [1] उपयुक्त समझा। वयक्तिकता की दृष्टि से साहित्य-जगत में कबीर की प्रतीक योजना विशेष महत्व रखती है। इसका विवेचन हम इसी प्रसग म आगे करेंगे।

साहित्य म प्रतीक विधान की एक सामान्य परम्परा सुदूर अतीतकाल से चली आ रही है। ऊपर हम वेद का उदाहरण दे आए हैं। उपनिषदों म अनेक गाथायें पूर्णत प्रतीक पर आश्रित हैं। योग-वासिष्ठ से समस्त उपाख्यान प्रतीकात्मक हैं। श्रीमदभागवत का भक्ति सम्बन्धी आख्यान विशुद्ध रूप से प्रतीकात्मक ही है। वज्रयान सम्प्रदाय की साधनापद्धति की अधिकाश अभिव्यक्तियाँ प्रतीकों के माध्यम से हुई हैं। अन्यत्र भी धर्मोपदेश के लिए लिखे गए आख्यान प्रतीकात्मक हो हैं। सूफी साधकों ने भी अपनी अध्यात्मपरक अभिव्यक्तियों म प्रतीकों का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ—

नवौ खड नव पौरी औ तह वज्र किवार।
चारि बसेरे सौं चढै, सत सौं उतरे पार॥

—'जायसी।

ये चार बसेरे सूफी सम्प्रदाय के अन्तगत चार पडाव हैं [2]—

---

१ मेर सपने टूट गए जसे भुना हुआ पापड

२ इन चार पडावों के सम्बन्ध म साधना की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से नामकरण किए हैं। कहीं कहीं पर इनम क्रम विपरीतता भी है—

१-शरीअत, २-तरीकत, ३-मारिफत ४-हकीकत।

भारत मे ही नहीं अपितु अन्यान्य देशो मे भी प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस और बेलजियम मे तो उन्नीसवी शताब्दि मे यथार्थवाद के प्रति विद्रोहात्मक भावनाओ का प्रचार हुआ और प्रतीक विधान को साहित्य एव सगीत मे विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।[1] सन १८८६ मे फिगारो नामक पत्र मे प्रतीकवाद एक सम्प्रदाय विशेष के रूप मे स्वीकृत हुआ। इस सम्प्रदाय के लेखक प्रतीको द्वारा अपनी विभिन्न मानसिक स्थितियों को व्यक्त किया करते थे। उस समय प्रतीकवाद का "आन्दोलन चित्रकला और सगीत मे प्रभाववाद के साथ साथ और उपचेतन के दर्शन के साथ-साथ उन्नीसवी शताब्दि के अन्तिम भाग के आनन्दवाद से मिल कर उस 'रोमान्टिसिज्म' की एक शाखा बन गया, जिसके साथ वह निर्बाध रूप से सबद्ध है।[2] आगे चल कर प्रतीकवादी दो दलो मे विभक्त हो गये। एक ने बर्ले का अनुगमन किया और दूसरे ने मलार्मे का। बर्ले के अनुयायियो ने प्रतीक विधान में दूसरे दल की अपेक्षा सांकेतिक अर्थ की सरलता एव स्पष्टता का विचार अधिक किया है।

देश-विदेश की बात तो दूर रही। जीवन के सामान्य व्यवहारों मे भी प्रतीकात्मकता के महत्व को देखा जा सकता है। साधारणत हम अपने घर को सजा कर रखते हैं। पर जब हम किसी अतिथि के आने पर अपने घर के कोने कोने को साफ

(अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— १-शरीअत — कर्मकांड,
२-तरीकत — उपासनाकांड,
३-हकीकत — ज्ञानकांड
४-मारिफत— सिद्धावस्था।

(अ) आचार्य चन्द्रवली पांडेय— १-शरीअत — कर्मकांड,
२-तरीकत — उपासनाकांड,
३-मारिफत— ज्ञानकांड,
४-हकीकत — ज्ञाननिष्ठ।

(इ) आचार्य मुन्शीराम शर्मा— १-शरीअत — ज्ञानकांड,
२-तरीकत — कर्मकांड
३-मारिफत— उपासनाकांड,
४-हकीकत — तथ्यप्राप्ति।

१ वार ए डिक्शनरी आफ इगलिश लिटरेचर पृष्ठ—२१६।
२ सीताराम चतुर्वेदी-समीक्षाशास्त्र, पृष्ठ—१२७३।

और उल्लास प्रतीक है। भौगोलिक परिस्थितियाँ ही इस अर्थ ग्रहण से लिए उत्तरदायी हैं।

साधारणत प्रतीकों की एक परम्परा होती है जिनके द्वारा भावाभिव्यक्ति म एक स्वाभाविक गुण आ जाता है। उदाहरणार्थ उषा सुख और सध्या दुख के प्रतीक रूप म सुदीर्घकाल से प्रयुक्त हानी आ रही है। भारतीय साहित्य मे ही नही, अपितु दूसरी भाषाओ के साहित्य मे भी ये दोनो ही उषा और सध्या जीवन-मरण की तथ्यो का निदर्शन कराने के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

देशगत एव परपरानुगत प्रतीका क अतिरिक्त युगगत प्रतीक भी होते हैं। छायावाद रहस्यवाद स प्रभावित काव्यधारा क अन्तगत मधुमास और 'पतझड का प्रयोग क्रमश सुख और दुख के लिए होता है। कतिपय प्रतीक व्यक्ति की रुचि विशेष का परिचय कराने वाले होत हैं। कवि परम्परा म टूटने या नष्ट होने के लिए मोम का पिघलना पखडी का झडना शीशे का टूक टूक होना प्रयुक्त हाता था किन्तु अब प्रगतिवादियो ने प्रवृत्ति विशेष का परिचय कराने के लिए 'भुने हुए पापड का टूटना [1] उपयुक्त समझा। वयक्तिकता की दृष्टि से साहित्य-जगत में कबीर की प्रतीक योजना विशेष महत्व रखती है। इसका विवेचन हम इसी प्रसग म आगे करेंगे।

साहित्य म प्रतीक विधान की एक सामान्य परम्परा सुदूर अतीतकाल से चली आ रही है। ऊपर हम वेद का उदाहरण दे आए हैं। उपनिषदो म अनेक गाथायें पूर्णत प्रतीक पर आश्रित हैं। योग-वासिष्ठ स समस्त उपाख्यान प्रतीकात्मक हैं। श्रीमदभागवत का भक्ति सम्बन्धी आख्यान विशुद्ध रूप स प्रतीकात्मक ही है। वज्र यान सम्प्रदाय की साधनापद्धति की अधिकाश अभिव्यक्तियाँ प्रतीका के माध्यम से हुई हैं। अन्यत्र भी धर्मोपदेश के लिए लिखे गए आख्यान प्रतीकात्मक ही हैं। सूफी साधकों ने भी अपनी अध्यात्मपरक अभिव्यक्तिया म प्रतीका का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ—

नवौ खड नव पौरी औ तह वज्र किवार।
चारि बसेरे सा चढ, सत सों उतरे पार॥

—जायसी'।

ये चार बसेरे सूफी सम्प्रदाय के अन्तगत चार पडाव हैं,[2]—

---

१ मर सपन टूट गए जसे भुना हुआ पापड'

२ इन चार पडावो के सम्बन्ध म साधना की दृष्टि से विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न प्रकार से नामकरण किए हैं। कहीं कही पर इनम क्रम विपरीतता भी है—

१–शरीअत, २–तरीकत, ३–मारिफत, ४–हकीकत।

भारत में ही नहीं, अपितु अन्यान्य देशों में भी प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस और बेल्जियम में तो उन्नीसवीं शताब्दि में यथार्थवाद के प्रति विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार हुआ और प्रतीक विधान को साहित्य एवं संगीत में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।[1] सन १८८६ में फिगारो नामक पत्र में प्रतीकवाद एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में स्वीकृत हुआ। इस सम्प्रदाय के लेखक प्रतीकों द्वारा अपनी विभिन्न मानसिक स्थितियों को व्यक्त किया करते थे। उस समय प्रतीकवाद का 'आन्दोलन चित्रकला और संगीत में प्रभाववाद के साथ साथ और उपचेतन के दर्शन के साथ साथ उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम भाग के आदर्शवाद से मिल कर उस रोमांटिसिज्म की एक शाखा बन गया जिसके साथ वह निर्बाध रूप से सबद्ध है।[2] आगे चल कर प्रतीकवादी दो दलों में विभक्त हो गये। एक ने बर्ले का अनुगमन किया और दूसरे ने मलार्मे का। बर्ले के अनुयायियों ने प्रतीक विधान में दूसरे दल की अपेक्षा सांकेतिक अर्थ की सरलता एवं स्पष्टता का विचार अधिक किया है।

देश–विदेश की बात तो दूर रही। जीवन के सामान्य व्यवहारों में भी प्रतीकात्मकता के महत्व को देखा जा सकता है। साधारणतः हम अपने घर को सजा कर रखते हैं। पर जब हम किसी अतिथि के आने पर अपने घर के कोने कोने को साफ

(अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— १–शरीअत — कर्मकांड,
२–तरीकत — उपासनाकांड,
३–हकीकत — ज्ञानकांड
४–मारिफत— सिद्धावस्था।

(आ) आचार्य चन्द्रबली पाँडेय— १–शरीअत — कर्मकांड
२–तरीकत — उपासनाकांड,
३–मारिफत— ज्ञानकांड
४–हकीकत — ज्ञाननिष्ठ।

(इ) आचार्य मुंशीराम शर्मा— १–शरीअत — ज्ञानकांड,
२–तरीकत — कर्मकांड
३–मारिफत— उपासनाकांड
४–हकीकत — तथ्यप्राप्ति।

१ कार ए डिक्शनरी आफ इंगलिश लिटरेचर, पृष्ठ—२१६।
२ सीताराम चतुर्वेदी–समीक्षाशास्त्र, पृष्ठ—१२७१।

करके उसकी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान देते है उसे नाना प्रकार क पकवान एव सुस्वादु फल भोजन के लिए देते है सुवासित शीतल जल से उसकी तृषा शान्त करते है तथा सुकोमल तल्प पर उसे शयन कराते हैं तब एक ओर अपन अतिथि की सुविधा का ध्यान तो रहता ही है साथ ही य सब क्रियायें इस बात की भी परिचायिका बनती हैं कि हम अपन अतिथि का इस भाँति स सम्मान करने की क्षमता रखत हैं। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति प्रतिवष नए मॉडल की कार खरीदता है तब उसका यह अथ नही है कि नयी कार कुछ अधिक उपयोगी है। उससे ध्वनित यही होता है कि प्रतिवष नई कार लेने की उसम क्षमता है। जीवन मे एस कितन ही काय होते हैं जो वस्तुरूप मे उतना महत्व नही रखते जितना भावरूप म।

प्रतीक विधान की क्रिया व्यवहार जगत की अपेक्षा भाव जगत मे अधिक देखी जाती है। इसी स साहित्यजगत म प्रतीको का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है विशेषरूप स धार्मिक साहित्य मे। यहाँ आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रश्न रहता है। आध्यात्मिक अनुभूति सीधी सादी भाषा के माध्यम से नही व्यक्त की जा सकती है। उसके लिए तो यद्यपि साई जाने जा पाव की बात है तदपि कहै बिन रहा न कोई। अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो को व्यक्त सभी करना चाहते हैं। इसके लिए वे *लोकजीवन के उन रूपों चित्रो वस्तुओ एव सम्बन्धो का चयन* करते हैं जिनम उनकी अनुभूति का साम्य हो और जो सामान्यत लोकपरिचित एव लोक प्रचलित भी हो।

प्रतीक सबधी किसी साधारण मान्यता की स्थापना करत समय हम धार्मिक प्रतीको को प्रमुख स्थान देना पडता है। कवि के लिए प्रतीको की उपयोगिता कदाचित केवल भावनाओ क उदभावन के माध्यम क रूप म ही हो (यद्यपि वह एसा बहुत कम करता है) पर धम पर विचार करने वाल के लिए ऐसा करना सभव नहीं। धम के साथ ही साथ आलोचना क्षत्र मे विज्ञान की भी चर्चा की जाती है। विज्ञान म भी प्रतीको का प्रयोग होता है। आधुनिक विज्ञान की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है उसका प्रतीकात्मक तत्व। गणित अथवा भौतिक विज्ञानी सव प्रथम अपन आधारभूत सिद्धान्तों के प्रतीकात्मक रूपो क प्रति सजग हुए और उन्होने इसी प्रतीकात्मक विचार को वज्ञानिक रूप म विकसित किया। वज्ञानिक रूप स तात्पय होता है पयवेक्षण और प्रयोग पर आधारित अधिकाधिक व्यापक सामान्य सिद्धान्तो को स्थिर करना और विज्ञान म प्रतीकात्मकता का अर्थ है तकसगत तथा गणित क समान अपरिवर्तनीय नियमो पर आधारित वास्तविकता का सांकेतिक रूप। वास्तविकता क प्रत्यक्षीकरण क दो भाग हैं। एक क द्वारा हम वास्तविक गुणो तथा मूल्यो पर बल देते हैं और दूसरे के द्वारा इन गुणों एव मूल्यो (वल्यूज) के भावात्मक रूप को लेते हुए उनके परिणामगत एव तर्क-सगत सबन्धो को स्पष्ट करते हैं। इस ही

हम दूसरे रूप म इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्य दोहरी भाषा का प्रयोग करता है जिसे हम कलात्मक और वज्ञानिक की सज्ञा प्रदान कर सकते हैं।

विज्ञान की भाषा म तथ्य कथन का सरलतम रूप ही उसका सघटन होता है। इस प्रकार विज्ञान की अपनी भाषा होती है ।जसका महत्व उसके सुगठित रूप म है। का य की भाषा भी सुगठित होती है पर वह केवल भावाद्र क का ही काम करती है किन्तु वज्ञानिक भाषा का काय वस्तु-सकेत करना होता है। विज्ञान काव्य की भाँति वास्तविकता का काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण न करके तथ्यासो का विश्लेषण और वणन करता है। इसीलिए वैज्ञानिक भाषा म तथ्य का छायात्मक चित्रण न होकर उसका यथाथ एवम सुनिश्चितरूप यक्त होता है। विज्ञान की भाषा अपन चरम विकास पर प्राकृतिक भाषा से विच्छेद करके कृत्रिम भाषा का रूप ग्रहण करती है यहाँ कृत्रिम भाषा से तात्पय उस भाषा से है जिसका व्यवहार किसी विशेष उद्दश्य और स्थिरता के साथ किया जाता है। का यात्मक भाषा नाटकीय है किन्तु वज्ञानिक भाषा का आदश ही है उसका अनाटकीय होना। जब विज्ञान अपने तथ्यो की अभि यक्ति के लिए का यात्मक शली का आश्रय लता है तब भाषा की सामान्य अभिव्यञ्जना प्रणाली मे प्रतीकात्मकता का आजाना स्वाभाविक होता है।

प्राय धम की तुलना विज्ञान स की जाती है। विज्ञान की ही भाँति धम की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है। जिन धम सब धी बातो की हम प्राय चर्चा करते हैं उनके विषय म हम स्वत कोई स्पष्ट मत स्थिर नही कर पाते हैं। धम की भाषा (जिसका अधिकाश रूप प्रतीकात्मक है) के अध्ययन क माध्यम से धम का यत्किंचित ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेते हैं।

धार्मिक भाषा के दो रूप किये जा सकते हैं—एक धम की गीतात्मक भाषा और दूसरा उसका नाटकीय रूप। प्रथम प्रकार म प्राथना स्तोत्र आदि आते हैं। भाषा का यह रूप भावनाओ की उद्भावना करता है और साथ ही भाव के मूत रूप का आह्वान भी। भाषा के दूसरे नाटकीय रूपको हम इच्छा और क्रिया की भाषा कह सकते हैं। इसम मुख्यत दन्त कथाओ के अन्तगत आने वाले सभी त वो का समावश होता है, क्योंकि वणनात्मक एव तार्किक दृष्टि स प्रकृति क वत्तों के नाटकीयकरण एव मानवीयकरण के लिए यही पुराण Myth) पारिभाषिक शब्द उपयुक्त होता है। कुछ लोगों का कहना है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे प्राकृतिक घटनाओ और मानवीय वृत्तों की अभि व्यक्ति इसी पौराणिक ढग (Mythical Style) मे होती थी। पर पौराणिकता (Mythology) की चेतना को स्पष्ट करने का यह पूणरूप स भ्रामक ढग है। पौरा णिकता की वृत्ति स जो उपलब्धि होती है उसकी तुलना हम परवर्ती वज्ञानिक उपलब्धियो म नही कर सकते। हम किसी भी अथ मे पौराणिकता की वृत्ति को

प्राचीनकाल म विज्ञान का स्थान लेने वाली नही मान सकते । तात्पय यह कि केवल नाटकीयता गुण-सपन्न भाषा म ही यह गुण होता है कि वह वस्तुगत अथ-प्रकाशन मे सहायक होती है । पौराणिक वृत्तो की सष्टि का अथ जातीय जीवन म अध्यात्म का सकेत करना होता है । पौराणिक वत्त आध्यात्मिक जगत का मौलिकवत्त है जो प्राकृतिक सकेत-साधनो क माध्यम स अभिव्यक्त किया जाता है । अपन को आगे बढाता हुआ ज्ञान एवद पौराणिक वृत्त की विशेषरूपता रखता है ।

अध्यात्मजगत म जिन सकेतों—प्रतीको का प्रयोग किया जाता है उन्हे हम मुख्यत दो भागा म विभक्त कर सकते है—एक स्वर्गीय पदार्थों क प्रतीक और दूसरे पवित्र कृत्या के प्रतीक । प्रथम प्रकार क प्रतीको क तीन भाग किये जा सकते हैं—

(अ) दवत्व अथवा ईश्वर के प्रतीक,
(आ) स्वर्गीय विशिष्ट गुणो के प्रतीक
(इ) स्वर्गीय कृत्या के प्रतीक ।

इन समस्त प्रकार के प्रतीक विधानो की यह विशेषता है कि मूत-विधान एव विचार लिये जाते हैं अनभव के सकुचित एव सहजबोध चेतना क क्षन से और उनका प्रयाग होता है कही ऐसे अधिक विश्वजनीन एवम् आदश सबन्धो के सदभ मे जिनका अपने व्यापकत्व तथा सावभौमता क गुण के कारण सीध ढग स वणन किया ही नही जा सकता ।

हिन्दी साहित्य क अन्तगत निगणपरक सत साहित्य मे प्रतीक स्थापन की प्रकृति विशेष रूप से परिलक्षित होती है यद्यपि सगुणधारा के कवियो ने भी भावाभिव्यजन के लिए प्रतीको का आश्रय ग्रहण किया है । उदाहरणाथ तुलसी क चातक की प्रम साधना पर लिख गए सभी दोहे प्रतीक पद्धति पर ही हैं । उनमे चातक क माध्यम से भक्ति की अनन्यता व्यक्त हुई है ।

जसा पहले लिख आये हैं प्रतीक विधान आध्यात्मिक क्षत्र म विशेषरूप से पाया जाता है । साधक के हृदय म साधना-पूर्ति के क्षणा मे जो आनन्दोल्लास उत्पन्न होता है उसे वह लोक कल्याण की भावना स प्रेरित होकर जन जन तक पहुचाना चाहता है । वह उस भावोल्लास का जब सव साधारण के समक्ष प्रचलित शब्दो के माध्यम से ठीक ठीक व्यक्त नही कर पाता है उसे भाषा पगु सी प्रतीत होती है तब वह प्राय प्रतीको का आश्रय ग्रहण करता है । कबीर का एक पद देखिए—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी
तेरे ही नाल सरोवर पानी ।
जल मे उतपति जल मे वास
जल मे नलिनी तोर निवास ॥

ना तलि तपति न ऊपरि आगि ।
तोर हेत कहु कासन लागि ।।
कहै कबीर जे उदुक समान ।
ते नहिं मूए हमरे जान ।।

यहाँ नलिनी जीवात्मा है और सरोवर का जल समस्त विश्व में व्याप्त परमात्म तत्व है जो उस कमलिनी में भी समाया है। इस आत्मा (कमलिनी) को जला सकने वाली आग न तो नीचे तपती है और न ऊपर। ऐसा कोई भी बंधन नहीं है जो आत्मा को बाँध सकता हो। आत्मा का कष्ट तभी तक है जब तक वह अपने को अपने प्रभु से भिन्न समझती है। जब यह आत्मा (कमलिनी) परमात्मा (जल) में लीन हो जायगी तब जन्म और मृत्यु का भय जाता रहेगा और आत्मा शाश्वत रूप से प्रभु के समीप ही विहार करने लगेगी। जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन नलिनी और जल के प्रतीकों द्वारा किया गया है।

संत साहित्य में ईश्वर, जीवात्मा, माया, शरीर और मन को लेकर विभिन्न रूपों में प्रतीक योजना पाई जाती है।

ईश्वर ही इस सम्पूर्ण प्रसार का एकमात्र हेतु है। वही स्रष्टा है, वही पालक है और वही संहारक भी है। संसार का स्वामी वही है। अतः उसे कहीं भरतार, भतार (भर्ता) कहीं प्रिय और कहीं खसम रूप में स्मरण किया गया है। इसके अतिरिक्त उसे बाप, जोलाहा आदि भी कहा गया है। ईश्वर की ही भाँति बाप भी पुत्र को जन्म देता है, उसका पालन करता है और उसके कल्याण के लिए उसका नियमन भी करता है। जिस प्रकार जुलाहा तानाबाना द्वारा कपड़ा बुनता है उसी प्रकार ईश्वर भी तो शरीररूपी वस्त्र का निर्माण करता है।

जीवात्मा के लिए पूत, तिरिया आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार पुत्र पिता का ही अंश है उसी प्रकार जीवात्मा भी ईश्वर का ही अंश है। पति के अभाव में जिस प्रकार पत्नी (तिरिया) को कष्ट होता है, उसी प्रकार परमात्मा के अभाव में जीवात्मा भी कष्ट पाती है। इसी प्रकार अन्य प्रतीक भी अपना व्यापक अर्थ रखते हैं।

संत साहित्य में प्रतीक योजना अपना विशेष महत्व रखती है। यहाँ हम कतिपय प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोगों के उल्लेख द्वारा यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि संत कवियों का भावजगत कितना व्यापक और उनकी अनुभूति कितनी गहरी होती थी और उनकी दृष्टि कितनी दूर तक जाती थी। प्रस्तुत प्रसंग में यह स्मरणीय है कि संत-साहित्य में कबीर द्वारा प्रयुक्त किए गए प्रतीकों का ही विशेष महत्व है। अन्य संत कवियों ने प्रायः कबीर की ही परंपरा में प्रतीकों का प्रयोग किया है।

साथ ही यह भी दष्टव्य है कि प्रतीकरूप म लाया गया एक शब्द कहीं जीव के लिए है और कहीं माया के लिए है। सतो की भाषा की विशेषता यही है कि उसमें शब्द चयन की अपेक्षा भाव प्रकाशन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

ईश्वर

जड चेतन, गुण-दोषमय" सष्टि का रूप अनादिकाल से कुतूहल एव जिज्ञासा का विषय रहा है। परिवतन के ये पुतले अपनी परिवतनीयता म ही शाश्वत हैं। सष्टि के आदिकाल स सूय चन्द्र नक्षत्रादि समस्त ग्रह एव उपग्रह शाश्वत गति से गतिमान हैं। उनकी गति मे एक नियम है, क्रम है। अपने समय पर ही घुमडती हुई घनाली तापतप्त अवनी की तषा को शान्त करने के लिए उतावली-सी प्रतीत होती है। शरद का स्वच्छ नीलाकाश कीर्तिशेष रूप म कितना मदुल प्रतीत *होता है और वन-श्री को अपनी सुरभि का उन्मुक्त दान करने वाली सुमनावलिया* कितनी मोहक है कितनी आकषक है और वह प्रखर ताप, पथिवी को झुलसाने वाली उष्णता स्वय भी कितना तप कर सजन के कितने मूल्यवान उपकरणो की सष्टि करती है इस रहस्य का उदघाटन ही तो भारतीय मनीषा का अभिप्रेत रहा है। सौर मण्डल म नित्यप्रति होने वाला यह नतन उस परोक्ष नट के प्रति जिज्ञासा की सष्टि करता है। ऐसा प्रतिभासित होता है कि समस्त सष्टि के क्रिया कलाप के पीछे कोई महान शक्ति काय कर रही है। विश्व के प्रकाश पुज सूय चन्द्र नक्षत्रादि कितने *नियमित क्रम से सचालित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई परम चेतन सत्ता* इन सबके मल म काय कर रही है। वदिक ऋषियो ने सूय का प्रकाश अग्नि की दाहकता जल की शीतलता वायु की गति और पथ्वी की स्थिरता म एक अचिन्त्य शक्ति की कल्पना की थी। यह कल्पना भावमय शक्ति के रूप म थी। उसमे व्यक्तित्व का अभाव था। विभिन्न शक्तियो के रूप म प्रकाशित होती हुई यही शक्ति निम्नाकित मत्र म एक व्यक्तित्व को लेकर प्रकट हुई है—

हिरण्यगभ समवततताग्रभूतस्यजात पतिरेक आसीत।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमा कस्म देवाय हविषा विधम॥

ऋ० १०।१२१।१

यह हिरण्यगभ भूतो (*पथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश*) का साथ ही समस्त प्राणिवग का जनक था। एक वही स्वामी था वही इस पथ्वी और आकाश का धारण किए हुए था। इसी शक्ति का विवेचन करते हुए ऋषि ने कहा—

ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।'

—ऋ० ८ ८ ५८